प्रकाशक

राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड
फैज बाजार, दिल्ली

१९४८

प्रथम संस्करण

मूल्य : तीन रुपये

मुद्रक

एलबियन प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली

प्राक्कथन

प्रस्तुत संग्रह में मेरे नौ एकांकी नाटक हैं। इन नाटकों को मैंने जीवन के द्वार पर खड़े होकर आलोचक की आँखों से देखा। इनके पात्रों में यथार्थ एवं वस्तुवादी सामग्री का ठोस एकत्रीकरण है। मनुष्य के बौद्धिक विकास के साथ उसके गुण-दोषों का भी विकास हुआ है। आपत्तिप्रतिपत्तियों से होकर उसके सद्-असद्-विवेचक ने नये पथों का निर्माण किया। संस्कृति, परम्परा, रूढ़ि एव विश्वास पद-पद पर उसके साथ रहे हैं और महान् जीवन-सागर में लहरों की तरह असंख्य आघातप्रत्याघात उसके सामने आते रहे हैं। जहाँ मनुष्य ने उनसे सीखा है वहाँ कुछ को छोड़कर और कुछ को अपनाकर वह आगे भी बढ़ा। इसी क्रम से मनुष्य का विकास हुआ है। नाटक मनुष्य के ग्रहण तथा त्याग का क्रियात्मक व्यक्तीकरण है और एकांकी नाटक उसके एक छोटे-से काल की चेष्टा, हाव-भाव, विवेचना-पद्धति का संघात।

अपने आधुनिक एकांकी नाटक के संकलन में मैंने एकांकी नाटक का जो विवेचन दिया था, हर्ष का विषय है कि अनेक प्रमुख आलोचकों ने उसे स्वीकार किया। इधर एकांकी नाटकों का प्रचार बहुत बढ़ रहा

है। उनके उपयुक्त रंगमञ्च भी तैयार हो रहे हैं और सामाजिक एक-दृश्य वाले नाटकों के लिए तो रंगमंच का निर्माण बहुत ही सरल हो गया है। एकांकी नाटकों में जल्दी-जल्दी दृश्य-परिवर्तन न तो संभव ही है, न उपयुक्त ही। इसलिए वे ही एकांकी नाटक अधिक सफल होते हैं जिनमें कम-से-कम दृश्यों का समावेश किया जाय, कम-से-कम पर्दे गिराये या उठाये जायँ। नाटककार की सफलता इसीमें है कि एकांकी नाटक एक दृश्य में प्रस्तुत करे। फिर भी यह नियम नहीं है कि एकांकी नाटक एक ही दृश्य के हों। कभी-कभी आवश्यकतावश नाटककार को अनेक दृश्य भी रखने पड़ते हैं।

मेरे ये नाटक अनेक बार रंगमंच पर अभिनीत हो चुके हैं तथा उन्हें रेडियो पर भी ब्राडकास्ट होने का अवसर मिला है। रेडियो के नाटकों की 'टेक्नीक' रंगमंच के नाटकों से बहुत भिन्न है। ये नाटक प्रायः ध्वनि-प्रधान होते हैं। उनमें पात्र को जो कुछ कहना होता है, जो कुछ हाव-भाव द्वारा अभिव्यक्त करना अभीष्ट होता है वहाँ वह केवल ध्वनि से ही निर्देश करता है। कायिक अभिव्यक्ति के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं है।

इधर पिछले एक वर्ष से दिल्ली-रेडियो के नाटक-विभाग में परामर्शदाता के नाते मुझे अनेक नाटककारों के नाटकों को पढ़ने तथा उन पर विचार करने का अवसर मिला है। उनमें मैंने देखा है कि वे कलाकार, जो पात्रों की आंगिक गति को प्रधानता देकर नाटक-निर्माण करते हैं, रेडियो पर असफल सिद्ध हुए हैं। वहाँ वाचिक तीव्रता की आवश्यकता है। इसीलिए मुझे अपने आदिम-युग, कुमार-सम्भव, आत्म-दान, गिरती दीवारें, जवानी आदि नाटकों में आंगिक अभिव्यक्ति को कम करके उन्हें ध्वनि से पूर्ण करना पड़ा। प्रस्तुत संग्रह के नाटकों को मैंने निर्देश के साथ ध्वनि भी दी है जिससे वे दोनों के लिए उपयुक्त हो सकें।

'नाटक साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। वे खेले जाने पर पढ़-अपढ़ सभी पर अपना प्रभाव डालते हैं। उपन्यास, कविता, कहानी एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। नाटक का क्षेत्र इस दृष्टि से बहुत व्यापक है। जिन देशों को साहित्यिकों ने नवीन चेतना दी है वहाँ वे नाटकों के द्वारा ही सफल हुए हैं। रंगमच की सफलता उसका सार्वजनिक होना है और सार्वजनिक होकर ही रंगमच अपना उद्देश्य पूरा कर सकता है। आज नाटकों का सबसे अधिक प्रचार रूस में है। वहाँ नाटक मनोरंजन की वस्तु न रहकर विचार-निर्माता है, एवं वे समस्याओं का सुलझाव भी उपस्थित करते हैं। हमारे देश में भी समाज से रूढ़ियों दुराग्रहों, मूढ़ताओं को दूर करने का एक-मात्र साधन रंगमच ही होगा, ऐसा मैं विश्वास करता हूँ।

इन नौ नाटकों में नौ प्रकार की विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियो का चित्रण है। नौ समस्याओं की ओर निर्देश है। मैं कविता, कहानी, उपन्यास में यथार्थ को प्रधान मानता हूँ। यथार्थ यदि कलात्मक ढंग से प्रस्तुत हो तो वह पाठक अथवा दर्शक को अपनी कमज़ोरी की ओर स्पष्ट निर्देश कर सकता है। हमारा आज का जीवन सामाजिक, राजनीतिक एव नैतिक दृष्टि से परिष्कार की अपेक्षा रखता है। स्वतन्त्रता मिल जाने पर भी हमारा मानसिक धरातल बहुत ऊँचा नहीं बन पाया है। 'बहुत ऊँचा' कहना कदाचित् उस ऊँचाई का अपमान करना होगा। हमें बाज़ार में चलना, बस में बैठना, पड़ोसी से व्यवहार करना भी नहीं आता। इधर रेडियो द्वारा प्रसारित 'नवभारत' के कुछ रूपकों में मैंने उन्हीं की ओर निर्देश किया है। इसीलिए मैं कहता हूँ, कि नाटक जितना यथार्थ होगा उतना ही प्रभावशाली होगा। इन नाटकों में 'जीवन' नाम का एक प्रतीक-रूपक भी है। हिन्दी में एकांकी प्रतीक रूपक बहुत कम लिखे गए हैं। 'स्त्री का हृदय' नामक एकांकी संग्रह में मैंने 'जवानी' नाम का एक प्रतीक-रूपक

है। उनके उपयुक्त रंगमंच भी तैयार हो रहे हैं और सामाजिक एक-दृश्य वाले नाटकों के लिए तो रंगमंच का निर्माण बहुत ही सरल हो गया है। एकांकी नाटकों में जल्दी-जल्दी दृश्य-परिवर्तन न तो संभव ही है, न उपयुक्त ही। इसलिए वे ही एकांकी नाटक अधिक सफल होते हैं जिनमें कम-से-कम दृश्यों का समावेश किया जाय, कम-से-कम पर्दे गिराये या उठाये जायं। नाटककार की सफलता इसीमें है कि एकांकी नाटक एक दृश्य में प्रस्तुत करे। फिर भी यह नियम नहीं है कि एकांकी नाटक एक ही दृश्य के हों। कभी-कभी आवश्यकतावश नाटककार को अनेक दृश्य भी रखने पड़ते हैं।

मेरे ये नाटक अनेक बार रंगमंच पर अभिनीत हो चुके हैं तथा उन्हें रेडियो पर भी ब्राडकास्ट होने का अवसर मिला है। रेडियो के नाटकों की 'टेक्नीक' रंगमंच के नाटकों से बहुत भिन्न है। वे नाटक प्राय: ध्वनि-प्रधान होते हैं। उनमें पात्र को जो कुछ कहना होता है, जो कुछ हाव-भाव द्वारा अभिव्यक्त करना अभीष्ट होता है वहाँ वह केवल ध्वनि से ही निर्देश करता है। कायिक अभिव्यक्ति के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं है।

इधर पिछले एक वर्ष से दिल्ली-रेडियो के नाटक-विभाग में परामर्शदाता के नाते मुझे अनेक नाटककारों के नाटकों को पढ़ने तथा उन पर विचार करने का अवसर मिला है। उनमें मैंने देखा है कि वे कलाकार, जो पात्रों की आंगिक गति को प्रधानता देकर नाटक-निर्माण करते हैं, रेडियो पर असफल सिद्ध हुए हैं। वहाँ वाचिक तीव्रता की आवश्यकता है। इसीलिए मुझे अपने आदिम-युग, कुमार-सम्भव, आत्म-दान, गिरती दीवारें, जवानी आदि नाटकों में आंगिक अभिव्यक्ति को कम करके उन्हें ध्वनि से पूर्ण करना पड़ा। प्रस्तुत संग्रह के नाटकों को मैंने निर्देश के साथ ध्वनि भी दी है जिससे वे दोनों के लिए उपयुक्त हो सकें।

नाटक साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग हैं। वे खेले जाने पर पढ-अपढ़ सभी पर अपना प्रभाव डालते हैं। उपन्यास, कविता, कहानी एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। नाटक का क्षेत्र इस दृष्टि से बहुत व्यापक है। जिन देशों को साहित्यिकों ने नवीन चेतना दी है वहाँ वे नाटकों के द्वारा ही सफल हुए हैं। रंगमच की सफलता उसका सार्वजनिक होना है और सार्वजनिक होकर ही रंगमच अपना उद्देश्य पूरा कर सकता है। आज नाटकों का सबसे अधिक प्रचार रूस में है। वहाँ नाटक मनोरंजन की वस्तु न रहकर विचार-निर्माता हैं, एवं वे समस्याओं का सुलझाव भी उपस्थित करते हैं। हमारे देश में भी समाज से रूढ़ियों, दुराग्रहों, मूढ़ताओं को दूर करने का एक-मात्र साधन रंगमच ही होगा, ऐसा मैं विश्वास करता हूँ।

इन नौ नाटकों में नौ प्रकार की विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियों का चित्रण है। नौ समस्याओं की ओर निर्देश है। मैं कविता, कहानी, उपन्यास में यथार्थ को प्रधान मानता हूँ। यथार्थ यदि कलात्मक ढंग से प्रसूत हो तो वह पाठक अथवा दर्शक को अपनी कमज़ोरी की ओर स्पष्ट निर्देश कर सकता है। हमारा आज का जीवन सामाजिक, राजनीतिक एवं नैतिक दृष्टि से परिष्कार की अपेक्षा रखता है। स्वतन्त्रता मिल जाने पर भी हमारा मानसिक धरातल बहुत ऊँचा नहीं बन पाया है। 'बहुत ऊँचा' कहना कदाचित उस ऊँचाई का अपमान करना होगा। हमें बाज़ार में चलना, बस में बैठना, पड़ोसी से व्यवहार करना भी नहीं आता। इधर रेडियो द्वारा प्रसारित 'नवभारत' के कुछ रूपकों में मैंने इन्हीं की ओर निर्देश किया है। इसीलिए मैं कहता हूँ, कि नाटक जितना यथार्थ होगा उतना ही प्रभावशाली होगा। इन नाटकों में 'जीवन' नाम का एक प्रतीक-रूपक भी है। हिन्दी में एकांकी प्रतीक रूपक बहुत कम लिखे गए हैं। 'स्त्री का हृदय' नामक एकाकी-संग्रह में मैंने 'जवानी' नाम का एक प्रतीक-रूपक

लिखा था। उसे कुछ आलोचकों ने सराहा भी है। 'जीवन' उससे भी अधिक गम्भीर तथा संकेतवादी प्रतीक-रूपक है।

शेष नाटकों के सम्बन्ध में मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता। इनमें कुछ सुधारवादी और समस्या-मूलक नाटक हैं जो अपनी बातें आप ही कह रहे हैं। 'दो अतिथि' एक प्रकार का व्यंग्यात्मक प्रहसन है। अभी उस दिन कलकत्ते में यह खेला गया। मेरे दो-एक साहित्यिक मित्रों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की, किन्तु यह प्रहसन एक स्पष्ट व्यंग्य होकर समाज पर आघात करता है, एक वर्ग को कमज़ोरी की ओर संकेत करता है; इसीलिए कदाचित् वह मनोरंजन के साथ-साथ वास्तविक स्थिति की ओर भी चोट कर सका।

हमारे साहित्य में वास्तविक नाटकों की अभी बहुत कमी है। इधर रेडियो के प्रचार ने नाटक-निर्माण को तीव्रता दी है, किन्तु अधिकतर नाटक रेडियो की टेक्नीक के आधार पर निर्मित न होने के कारण असफल हुए हैं। हमें चाहिए कि रेडियो की टेकनीक का पूर्ण अध्ययन करें। आजकल हमारा जीवन समस्या-मूलक है। हमारे सामने अनन्त समस्यायें हैं नाटक ही उन समस्याओं का समाधान उपस्थित कर सकता है। यह एक बहुत बड़ा प्रचार का साधन भी है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अब देश में स्थायी, अस्थायी रंगमंचों के निर्माण की आवश्यकता है जिनके द्वारा हम विषम परिस्थितियों से उत्पन्न जीवन की गति को ठीक दिशा में मोड़ सकते हैं, उसको एक तर्कपूर्ण व्यवस्थित मार्ग दिखा सकते हैं।

एक बात और—

वर्तमान काल में नाटक-तत्वों में मनोवैज्ञानिक तथ्यों का समीकरण आवश्यक हो गया है। कोई भी नाटक, यदि मानसिक संतुलन एवं मनोविज्ञान की कसौटी पर ठीक

और जन-साधारण में व्यवहृत भावुकता, व्यापार, परिणति की भूलें हैं, तो सहृदय संवेद्य नहीं हो सकता। इसके लिए नाटककार को देखना होगा कि कौन पात्र किस तरह अपनी बात प्रारम्भ करता है, किस प्रकार के तर्क उपस्थित करके अपनी कार्य-सिद्धि की ओर बढ़ता है, किस प्रकार के पात्र में कौन-सा ज्ञान सम्भव है, आदि बातें नये युग के नाटककार को सीखनी होंगी।

मैं मानता हूँ, कोई भी बाह्य वस्तु, जो संस्कार-परम्परा से मेरी नहीं बन गई है, वह न तो मेरे समाज के लिए उपयोगी है, न उससे व्यक्ति का ही कल्याण हो सकता है। माँगी हुई कोई भी वस्तु हमारी नहीं बन सकती। प्रत्येक देश की अपनी परम्परा, संस्कृति और तर्क-संगत विश्वास होते हैं जो जाति की जड़ों तक गहरे पैठे होते हैं। उनका मर्म-दर्शन करके ही हम उसकी समस्याओं को सुलझा सकते हैं। यह मर्म-दर्शन ही जीवन के रोगों का वास्तविक निदान है। मैं मानता हूँ मेरे देश की समस्याओं का समाधान भी मेरे ही देश में है। उसका समाधान ढूँढ़ने हमें कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। केवल आर्थिक समीकरण ही हमारी समस्या का समाधान नहीं है। मनुष्य की एक और भी भूख है, वह है उसका आध्यात्मिक चरित्र-निर्माण, उसका सांस्कृतिक-चेतनात्मक जीवन। हम जो कुछ नहीं हैं वह हमें बनना होगा। जो कुछ हम भूल गए हैं उसे पाना होगा। जिन मूल तत्त्वों के आधार पर यह आर्य जाति इतने दिनों से अपने वैभव में पलती चली आई है, जिनके द्वारा उसने संसार को नया प्रकाश-मार्ग दिखाया है, उसे एकदम हेय कहकर छोड़ देने से काम न चलेगा। यही कारण है हमारे देश ने विश्व के सब देशों से आचार, व्यवहार, दर्शन, विज्ञान में सबसे अकेले खड़े होकर अपनी समस्याओं का हल निकाला है। अपने नये दृष्टिकोण द्वारा संसार को चमत्कृत किया आज साहित्य में उसी के पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। वृत्त की

जड़ें अपने मूल से ही रस ग्रहण कर सकती हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपनी आँख का चश्मा चाहिए। समाज के रोग व्यक्ति की कुचेष्टाओं का परिणाम हैं। हम व्यक्ति को भूल नहीं सकते। व्यक्ति का व्यक्तित्व जैसे साहित्य की वस्तु है वैसे ही वह जीवन के प्रत्येक अंग में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यही वास्तविकता है। साहित्य में इस वास्तविकता की रक्षा भारतीय परम्परा की रक्षा करना है।

नाटकों में रस-संचार के अतिरिक्त उद्देश्य की भी प्रधानता है। केवल रस ही जीवन नहीं है, उसमें उद्देश्य की भी प्रधानता होनी चाहिए। बीज में फल की तरह नाटक कथा का एक उद्देश्य होना चाहिए। और समस्या-नाटकों के लिए तो उद्देश्य का होना परमावश्यक है। रस मनुष्य के मनोभावों में एक सन्तुलन, प्रवृत्तियों में एक संघर्ष, चेतना के प्रति तीव्रता, मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया से जन्य दर्शक के विवेचक को जाग्रत करता है, त्याज्य और उपादेय की प्रवृत्ति को रगड़ कर उकसाता है, किन्तु उद्देश्य तो जीवन की वास्तविकता है। जिसके लिए नाटक द्वारा इन गौण चेतना-तन्तुओं को जाग्रत किया जाता है। आज के नाटक का परम तत्त्व हमारा वैज्ञानिक तर्क-सिद्ध उद्देश्य होना चाहिए। उद्देश्य से मेरा तात्पर्य नाटक लिखने के उद्देश्य से है। प्रत्येक नाटक का कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य होना चाहिए। जैसे साहित्य में आज कला जीवन के लिए, जीवन देने के लिए है उसी तरह नाटक का भी उद्देश्य के लिए होना आवश्यक है और समस्या-मूलक नाटकों के लिए तो और भी।

—उदयशंकर भट्ट

दिल्ली

२ अक्तूबर, १९४८

क्रम

समस्या का अन्त

पात्र

माणविका	..	वामरथगण की कन्या
श्रुतवुद्धि	...	मद्रकगण का सेनानायक
शवर	.	माणविका का पिता
दर्भक	.	माणविका का भाई

र घुमती, आनन्दक, दीर्घक, सागरिका आदि ।

समस्या का अन्त

प्रथम दृश्य

[रात्रि का समय। आकाश मे कभी-कभी चाद मुसकरा उठता है, शेष समय बादल के टुकड़े उठ-उठकर चन्द्रमा को घेर लेते है, मानो प्रसन्नता के अदर कभी-कभी विषाद की रेखा खिच जाती हो। एक नवयुवती—जिसमें सत्रह-अठारह वर्षों ने अपनी सचित शक्ति भर डाली है। उठान के साथ सौन्दर्य, सौन्दर्य के साथ वल, वल के साथ गठन, गठन के साथ दृढता, आत्म-विश्वास, गर्व। और अभिलाषा के कुछ स्फुल्लिग। गौर वर्ण, जटाजूट वेणी। जिससे ललाट और भी विशाल दिखाई देता है। वेणी जटा में चारो ओर मालती के पुष्प है। आयताक्ष, तीखी नाक, और स्तनांशुक तथा कौषेय शाटिका। सुदृढ शरीर, साथ में सिंह-शावक, जो लौह-शृखला से बँधा है। स्थान नदी का तट। सिंह-शावक पानी पी रहा है। युवती, जिसका नाम माणविका है, नदी की धार की ओर ध्यान से देख रही है। कभी 'अरे पी चुका' कहकर सिंह-शावक को झटका देती है। फिर ध्यान से नदी की धार की ओर देखने लगती है। ऐसा दीख पडता है मानो दूर से कोई व्यक्ति नदी की धार को चीरता हुआ चला आ रहा है। माणविका देखकर कहती है]

कौन आ रहा है ? इस भयंकर तूफान में नदी को चीरता हुआ यह कौन आ रहा है ? अरे, क्या वही है ?

(व्यक्ति पास आ जाता है। सिंह एक बार फिर गरजता है। व्यक्ति के फूले हुए सांसों की आवाज बढ़ती है।)

माणविका—(पास से) तुम, तुम आ गए ? इतनी बढ़ी हुई नदी को, अंधेरी रात में पार करके आज तुम फिर आ गए श्रुतबुद्धि ?

श्रुतबुद्धि—हाँ, माणविका ! मैं आ गया। यह तो नदी है, तुम्हारे लिए मैं समुद्र पार कर सकता हूँ। आकाश के तारे तोड़कर ला सकता हूँ।

माणविका—श्रुतबुद्धि ! जानते हो तुम्हारे इस साहसपूर्ण कार्य का क्या अर्थ होगा ?

श्रुतबुद्धि—मेरा नाश ?

माणविका—तुम्हारा ही नहीं मेरा भी। तुम्हारे यहां आने के कारण सहस्रों वामरथों मल्लकों का नाश हो जायगा। मेरे गण के लोग यह नहीं चाहते कि एक भी वामरथ मल्लकों से मिले।

श्रुतबुद्धि—(नदी पार करने की थकावट से सांस अभी तक फूल रही है) मैं जानता हूं माणविका, मैं तुमसे मिलने आकर आग से खेल रहा हूँ। मृत्यु को हथेली पर रखकर ही मैं यहाँ आता हूँ, माणविका !

माणविका—किन्तु तुम्हारे घाव तो अभी तक भरे नहीं हैं। नदी में प्रतिदिन इस प्रकार संतरण करने से क्या वे फट न जायंगे ? उनमें विपाक न पड़ जायगा ?

श्रुतबुद्धि—नहीं, अब वे कुछ-कुछ ठीक हैं। उनसे भी बढ़कर मेरे हृदय में एक घाव हो गया है, माणविका !

माणविका—है ? हृदय में घाव ? किसी वैद्य को दिखाओ। (सिंह गरजता है) अरे, तुझे क्या हो गया ? तू किधर भाग रहा है ? ठहर जा, श्रुतबुद्धि ! तुम्हारी भेंट यह सिंह भी मेरे क्रीडनक से कम

नहीं है। दो-एक दिन तो इसने मुझे व्यर्थ ही दौड़ाया। किन्तु अब यह मेरा आज्ञाकारी हो गया है। देखो, तनिक इसके सिर पर हाथ फेरो, कितना सुन्दर है! यह तुम्हारे हृदय में घाव कैसे हो गया, भला। किसी और सिंह ने युद्ध किया था क्या?

श्रुतबुद्धि—नहीं, एक सिंहनी से युद्ध करना पड़ा।

माणविका—(भोलेपन से) सिंहनी से? सिंह की अपेक्षा सिंहनी से युद्ध करना कठिन है। किस स्थान पर तुमने युद्ध किया था? यहाँ वामरथों के वन में अथवा मद्रक वन में।

श्रुतबुद्धि—वामरथ वन में?

माणविका—वामरथ वन में? कहां?

श्रुतबुद्धि—लम्बी कथा है माणविका, तुम न समझ सकोगी।

माणविका—यदि तुम समझाओगे तो क्यों न समझ सकूँगी। यह हृदय में घाव कैसे हो गया है? तुम्हें मालूम है मेरे परिवार को संदेह हो गया है। पहले मैं क्षेत्र-रक्षा के लिए रात्रि-भर नहीं रहती थी, अब मैंने तुमसे मिलने के लिए रात्रि-भर क्षेत्र-रक्षा का भार लिया है। इसी से मेरी माता को सन्देह हो गया है श्रुतबुद्धि!

श्रुतबुद्धि—फिर?

माणविका—हम लोग दो-एक दिन में गान्धार जाने वाले हैं। मेरी माता गान्धार देश की हैं न। गान्धार में मेरी माता को दो बड़े अन्न-क्षेत्र मिले हैं, इसीलिए।

श्रुतबुद्धि—मुझे वामरथों से कोई डर नहीं है माणविका! जीवन दो बार नहीं मिलता। प्रेम दो व्यक्तियों से नहीं किया जाता। क्या तुम मुझे छोड़कर चली जाओगी माणविका?

माणविका—जाना ही होगा श्रुतबुद्धि! तुमने हृदय के घाव के सम्बन्ध में नहीं बताया।

श्रुतबुद्धि—व्यर्थ है ।

माणविका—व्यर्थ क्यों है, क्या तुम माणविका को '

श्रुतबुद्धि—मुझे बड़ा धोखा हुआ। विश्वास के पंखों पर उड़कर जो मैंने पाया था, आज वह नदी की लहरों में बहा जा रहा है। जीवन इतना क्षणिक है, विश्वास इतना पंगु है, प्रेम इतना कमज़ोर है, हृदय इतना दुर्बल है, यह मैंने आज ही जाना।

माणविका—तुम इतने दुखी क्यों होते हो। मैं गान्धार से फिर लौट आऊँगी।

श्रुतबुद्धि—वर्षों प्रतीक्षा करने वाला हृदय क्षण-भर भी विश्वास नहीं करता माणविका ! तुम क्या इसी तरह लौट सकोगी ? उतना ही सबल प्रेम लेकर, विश्वास नहीं होता। अच्छा चलूँ। लहरें मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं। बिजलियाँ कड़ककर मेरी कमजोरी को देख रही हैं।

माणविका—मैं नहीं समझती तुम क्या कह रहे हो ?

श्रुतबुद्धि—मित्रों से युद्ध करने वाली युवती हृदय से युद्ध नहीं कर सकती।

माणविका—तुम जानते हो ? इस आधी रात को न जाने कौन मुझे इस नदी-तट पर खींचकर ले आता है। न जाने क्यों तुम्हारी मूर्ति मेरी आँखों में झूलती रहती है ?

श्रुतबुद्धि—फिर भी तुम मेरे हृदय के घाव की गहराई को नहीं समझ पातीं माणविका !

माणविका—(लम्बी आह भरकर) मैं समझती हूँ श्रुतबुद्धि ! अब समझी। तुम न जाने कौन-सी भाषा में बात करते हो ? तुम बात करने में बड़े चतुर हो। क्या सभी मठक इसी प्रकार बहुत बातें करना जानते हैं ?

श्रुतबुद्धि—(चुप रहकर कुछ सोचता हुआ) मैं नहीं चाहता कि तुम गान्धार जाओ।

माणविका—मैं विवश हूँ। माता-पिता जा रहे हैं। मुझे जाना ही होगा श्रुतबुद्धि।

(इसी समय मा की आवाज आती है 'माणविका, माणविका, ओ माणविका! अरी कहा है तू' ?)

माणविका—यहाँ नदी-तट पर सिंह-शावक को जल पिलाने आई थी। आ रही हूँ। (सिंह गरजता है) (धीरे से) तुम जाओ श्रुतबुद्धि! माता आ रही हैं, जाओ।

श्रुतबुद्धि—मैं नहीं जा सकता माणविका! इतनी दूर आकर लौट सकना असंभव है। बोलो, तुम गान्धार नहीं जाओगी।

माणविका—मैं, मैं कुछ नहीं कह सकती श्रुतबुद्धि! तुम जाओ।

(नेपथ्य ने 'माणविका! माणविका!' आवाज पास आ जाती है)

माँ—मैं आ रही हूँ, देख बादल घिरे आ रहे हैं। बिजली कड़क रही है। और तू नदी के किनारे अकेली है।

माणविका—अभी आ रही हूँ माँ, आ रही हूँ। यह सिंह नहीं आना चाहता। (गरजता है) देख बिजली की कड़क बादलों की गरज से यह कितना प्रसन्न होता है। (सिंह फिर गरजता है) तुम जाओ श्रुतबुद्धि, जाओ। माँ आ रही हैं।

श्रुतबुद्धि—तुम वचन दो।

माणविका—हम लोग कल रात्रि को यहीं मिलेंगे, जाओ।

माँ—देख, अन्न को पशु चरे जा रहे हैं। और तू नदी के तट पर बिजली की कड़क, मेघों की गरज, नदी की बाढ़ देख रही है। कौन है तेरे पास ?

(श्रुतवुद्धि एकदम नदी का धार में कूद पडता है। मा का प्रवेश)

माणविका—कोई भी नो नहीं माँ! कोई भी नहीं।

माँ—तू बोल रही थी न ?

माणविका—कोई भी न था। एक नक्र को देखकर मदनक गरज रहा था।

माँ—आज मद्रकों ने हमारे दो वामरथों को मार डाला, तूने सुना।

माणविका—क्यों ?

माँ—यह तो मुझे नहीं मालूम। कोई बात होगी। कोई कहता है कि वामरथ मद्रकों के प्रदेश में घुस रहे थे। कोई कहता है मद्रक उन्हें पकड कर ले गए।

माणविका—बड़े दुष्ट हैं मद्रक। नदी के उस पार ही तो मद्रकों का देश है।

माँ—आओ चलें। मद्रकों के कारण यह तट भी असुरक्षित होता जा रहा है। आओ चलें। तुझे अकेली समुद्र-तट पर डर नहीं लगता री ?

माणविका—डर किस बात का माँ! मदनक जो मेरे साथ है।

माँ—मद्रकों का! हम लोग शीघ्र ही गान्धार चले जायंगे।

माणविका—क्या मद्रकों से भय के कारण ही ?

माँ—यह प्रतिदिन का युद्ध मुझे अच्छा नहीं लगता। घल अन्न पड़ा है पशु न खा जायं। तू किससे बात कर रही थी ?

माणविका—(मदनक से)। चलो (सिंह गरजता है)।

द्वितीय दृश्य

[अन्न-क्षेत्र से हरे-भरे वन में बलिष्ठ शरीर नवयुवक श्रुतबुद्धि घूम रहा है। घनाच्छादित आकाश मे कभी चन्द्रोदय हो जाता है। कभी श्रुतबुद्धि घूमता दिखाई देता है। घुटनो तक धोती, शेष शरीर मृग-चर्म के कंचुक से ढका हुआ। कमर मे कृन्त। सिर के बाल पीछे की तरफ बिखरे हुए। अन्धकार मे श्रुतबुद्धि घूम रहा है। क्षेत्रो में मच दिखाई देते है। एक मच के पास जाकर 'माणविका, माणविका' धीरे-धीरे आवाज लगाता है।]

श्रुतबुद्धि—(धीरे से) यह मच पर कौन बैठा है, निश्चय ही यह माणविका है। माणविका! प्रिय माणविका!

एक व्यक्ति—कौन है, कौन है? (आगे बढकर) तुम कौन हो?

श्रुतबुद्धि—श्रुतबुद्धि।

शबर—दर्भक, देखो, मुझे स्पष्ट नही दिखाई दे रहा है। देखो तो तनिक।

दर्भक—देखता हूं दादा, (आगे बढकर श्रुतबुद्धि को पकडकर) बोलो तुम कौन हो?

श्रुतबुद्धि—छोडो, मुझे जाने दो। (छुडाता है, दर्भक पकड लेता है।)

दर्भक—अब तुम नहीं जा सकोगे, तस्कर।

शबर—कौन है दर्भक? क्या यह अन्न चुराने आया था?

श्रुतबुद्धि—माणविका को मैने मदनक भेंट मे दिया था, उसे लेने को आया हूँ।

शबर—क्या कहा, माणविका को इसने मदनक भेंट मे दिया था?

दर्भक—यही कहता है। (सामने आकर) माणविका से तुम्हारा सम्बन्ध?

श्रुतबुद्धि—सम्बन्ध, क्या माणविका नहीं है ?

दर्भक—तुमने मदनक उसे क्यों दिया था ? नहीं, तुम तस्कर हो।

शवर—पकड़ लो दर्भक, पकड़ लो। यह कोई तस्कर है।

दर्भक—मदनक तुमने भेंट में दिया था ? तुम हो कौन ?

श्रुतबुद्धि—मैं मद्रक हूँ, श्रुतबुद्धि मेरा नाम है।

दोनों—मद्रक, दुष्ट मद्रक, अब तुम बचकर नहीं जा सकते।

(दोनो में युद्ध होता है, शवर दर्भक दोनो मिलकर श्रुतबुद्धि को मारते हैं, श्रुतबुद्धि 'आह' करके गिर जाता है।)

शवर—मर गया ?

दर्भक—हाँ, मर गया।

शवर—साँस तो नहीं है ?

दर्भक—नहीं, अब यह उठ नहीं सकता। मद्रकगण के किसी व्यक्ति को देखकर उसे सुरक्षित जाने देना वामरथों का धर्म नहीं है। चलो चलें।

शवर—हाँ, ठीक है। चलो।

(माणविका का प्रवेश)

माणविका—(उसी अन्धकार में) अभी तक श्रुतबुद्धि नहीं आया। क्या वस्तुतः वह अब न आयगा ? है, यह क्या, यह कौन है ? (पास जाकर) अरे श्रुतबुद्धि ! यह तुम्हारी दशा किसने की ? श्रुतबुद्धि ! अभी सांस तो चल रही है। ठहरो, मैं मुँह मे जल डालती हूँ। श्रुतबुद्धि ! नेत्र खोलो देखो, मैं माणविका हूँ।

श्रुतबुद्धि— (धीरे से) माणविका !

माणविका—तुम्हारी यह दशा किसने की श्रुतबुद्धि !

श्रुतबुद्धि— (चुप रहता है)

माणविका—बोलो प्रिय तुम्हे क्या हुआ ?

श्रुतबुद्धि—माणविका, तुम्हारे पिता शबर और भाई दर्भक ने मिलकर मुझे मार ही डाला था।

माणविका—तुम क्षेत्र में गये थे ?

श्रुतबुद्धि—हाँ, तुम्हे खोजता अन्न-क्षेत्र में गया था। अब मैं स्वस्थ हूं।

माणविका—प्रिय ! कल अन्न घर चला जायगा। इसके पश्चात् हमारा क्षेत्र का कार्य समाप्त हो जायगा। परसों हम लोग गाधार जा रहे हैं।

श्रुतबुद्धि—फिर तुमने मुझे क्यों जीवित किया ? माणविका, मुझे यहीं नदी के तट पर मर जाने देतीं।

माणविका—प्रिय !

श्रुतबुद्धि—माणविका !

माणविका—मैं चुपचाप माता को सोती छोडकर अन्तिम बार तुमसे मिलने आई हूँ। कल कुछ मद्रकों ने दो वामरथों को मार डाला। मैं मद्रकों से घृणा करती हूँ। तुमसे भी मिलना नहीं चाहती थी, किन्तु समय आते ही न जाने क्यों मुझसे रहा न गया। मै सोई न रह सकी। दौड़ी हुई तुमसे मिलने चली आई।

श्रुतबुद्धि—मैं तुम्हारे बिना जीवित न रह सकूँगा। तुम्हे मेरे साथ चलना होगा।

माणविका—शत्रु मद्रकों के घर में नहीं जा सकती।

श्रुतबुद्धि—हमारा प्रेम मद्रक वामरथों से ऊपर है, माणविका ! मैं वचन देता हू कि जीवन रहते तुम्हारी रक्षा करूँगा। तुम प्राण हो मैं शरीर, तुम हृदय हो मैं स्पन्दन, तुम वाणी हो मैं जिह्वा, माणविका !

माणविका—प्रिय, हम तुम एक होकर रह सकेंगे ?

श्रुतबुद्धि—अवश्य, हमें संसार की कोई शक्ति पृथक् नहीं कर सकती।

माणविका—नारी एक बार हृदय देती है।

श्रुतिबुद्धि—मद्रक एक ही नारी को प्यार करते हैं।

तृतीय दृश्य

[सुरा-पान करते हुए मद्रकगण नाच रहे हैं]

छलक-छलक चले।
सुरा भरे मधुर-मधुर चपक ढलक चले
रंग-रग रूप-रूप में ढले—छलक-छलक चले।
सुरा भरे मधुर-मधुर चपक ढलक चले
प्रेम नेत्र-द्वार से ललक-ललक चले।
छलक-छलक चले।

गीत गा रही निशा सितार-तार पर
होश भी उलझ रहे नेत्र-द्वार पर
मदिर-मदिर सुगंध पी प्राण थक चले।
छलक-छलक चले।

महान गान आज यह समीर-ताल पर
घूमते सुरा-चपक अमन्द चाल पर
प्राण-प्राण गान कर ललक-ललक चले।
छलक-छलक चले।

सुरा भरे मधुर-मधुर चपक ढलक चले

सब—एक बार और मिलकर पियो। श्रुतबुद्धि माणविका के दीर्घ जीवन के लिए पियो।

प्रथमक—हमारे जीवन पर संसार का जीवन निर्भर है, अत. अपने लिए पियो। अपने नेत्र बन्द कर लेने पर ससार मे अन्धकार छा जाता है और यह सुरा स्वर्ग-गमन के लिए सोपान है। अत अपने लिए पियो। एक बार पियो, अनेक बार पियो। हा हा हा (पीता है)

मधुमती—प्रथमक, पीकर तुम भूल जाते हो कि कोई और भी है। हम मद्रकों मे अपना तो कोई है ही नहीं। इसलिए मे कहती हू सबके लिए पियो, सबके सुख के लिए पियो। माणविका के लिए पियो, श्रुतबुद्धि के लिए पियो। लो माणविका (चषक देती है)

आनन्दक—प्रसाद है, जीवन प्रसाद है। मैं कहता हू कि इतना पियो कि जितने अपने को, पराये को भूल जाओ। यही ब्रह्मानंद है। युद्ध मे जिस प्रकार जीवन का मोह नहीं होता, वैराग्य में जिस प्रकार मरण से घृणा, भय नहीं होते, इसी प्रकार मरण-जीवन के बन्धन की उपेक्षा करके पियो। लो तुम पियो मधुमती, तुम्हारा नाम मधुमयी है। प्रिय, स्वयं सुरामयी हो तुम।

श्रुतबुद्धि —माणविका मद्रकों की विजय-श्री है। प्रिये, सब मद्रक तुम्हारा स्वागत करते है, लो एक मेरे हाथ से प्रिये!

माणविका—प्रिय, प्रेम भेद नहीं जानता। उसकी दृष्टि में न मद्रक है न चामरथ। वह सबके लिए पेय है।

(मद की विह्वलता से रूप की आखें विभोर हो उठती है। कुछ स्वय उठकर नाचने लगते हैं। हा-हा-हू हू से स्थल भर जाता है)

सागरिका—माणविका, सुरा जीवन के वसंत का अग्रदूत है। आह तुम इस समय कितनी सुन्दर लग रही हो। तुम्हारी आंखों के डोरों ने मानो यौवन महाराज के आने के लिए उल्लास का पथ बना दिया हो। (हंसती है)

माणविका—ठीक कहती हो सागरिका, तुम्हारे लाली भरे कपोल उनके ऊपर छत्र बनकर चल रहे है।

सब—ठीक, सुन्दर (हा-हा हँसते हैं)

सब—हा-हा-एक बार नहीं अनेक बार। मद्रक गण की जय।

गूँज उठे आकाश हमारा गूँज उठे।
गूँज उठे मधुमास दुलारा गूँज उठे। (हँसते हैं)

दीर्घक—बस करो, बस करो। तुमने सुना वामरथ मद्रकों पर आक्रमण करके माणविका के अपहरण का बदला लेना चाहते हैं। उत्सव बन्द करके युद्ध की तैयारी करो।

सब—माणविका मद्रकवर्ग की हो गई। हम उसकी रक्षा के लिए प्राण दे देंगे, चलो।

माणविका—प्रियतम श्रुतबुद्धि!

श्रुतबुद्धि—प्रिय!

माणविका—तुमने सुना?

श्रुतबुद्धि—मद्रक युद्ध से कभी नहीं डरते, माणविका। हम लोग प्राण रहते तुम्हारी रक्षा करेंगे।

माणविका—हूँ।

श्रुतबुद्धि—चलो, प्रातःकाल ऊषा की लालिमा के साथ शाकल नदी को वामरथों के रक्त से रंग देने के लिए चलो।

सब—हाँ, चलो।

माणविका—श्रुतबुद्धि वामरथ मेरे बन्धु हैं, यह नहीं होगा।

श्रुतबुद्धि—फिर क्या होगा? युद्ध का आह्वान होने पर हम पीछे नहीं हट सकते।

माणविका—क्या युद्ध आवश्यक है श्रुतबुद्धि?

श्रुतबुद्धि—प्रिये हमारा जीवन गण के लिए है। मद्रक गण के सेनानायक होने के नाते मेरा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं युद्ध के लिए अपने गण को सन्नद्ध करूँ।

माणविका—(दीर्घ सांस लेकर चुप रह जाती है)

श्रुतबुद्धि—आज्ञा दो प्रिये, बाहर कोलाहल बढ़ रहा है। संपूर्ण वर्ग मेरी प्रतीक्षा में है।

माणविका—मैं कुछ नहीं जानती।

श्रुतबुद्धि—तुम्हारा मुख-चन्द्र फिर देखने का विश्वास लेकर जा रहा हूँ प्रिये। (चला जाता है)

सागरिका—माणविका ! तुम उदास हो गईं ! हम मद्रक स्त्रियाँ, ओह यह युद्ध कितना भयानक है ?

माणविका—सखी ! मैं भी युद्ध के लिए जाऊँगी।

सागरिका—युद्ध के लिए जाना अनुचित नहीं, किंतु क्या तुम अपने भाई-बन्धु बामरयों से युद्ध कर सकोगी।

माणविका—यही सोचती हूँ, किंतु मुझे जाना ही होगा। मैं ठहर नहीं सकती।

सागरिका—कहाँ यह विलास और कहाँ मृत्यु ! कितना अन्तर है इसमें ?

माणविका—तुम सच कहती हो सखी ! प्रेम बलिदान चाहता है।

सागरिका—एँ ! तो क्या तुम अपना बलिदान दोगी ? क्या यह युद्ध किसी प्रकार रुक नहीं सकता ?

माणविका—तुमने नींद में सोते हुए प्रिये के अधर-स्पर्श के आनन्द का अनुभव किया है सागरिका ?

सागरिका—इस युद्ध के समय तुम्हें यह क्या सूझा है। हाँ, ठीक है। बिचारी के विवाह को दिन ही कितने हुए हैं। सखी ! मेरा विश्वास है श्रुतबुद्धि विजयी होकर लौटेंगे।

माणविका—तुमने सिंह की दाढ़ों से छीनकर मृग का माँस खाया है सागरिका ?

सागरिका—नहीं। पर इस समय इन बातों से क्या मतलब है तुम्हारा ?

माणविका—तुमने बरसाती नदी की वेगमयी धार में तैरते हुए नृत्य किया है सागरिका ?

सागरिका—नहीं।

माणविका—मुझे एक चषक सुरा दो।

सागरिका—लो, पियो। प्रियतम के पुनरागमन के लिए कादम्ब-पान करो सखी।

(गट-गट पीती है)

माणविका—एक और।

सागरिका—लो।

माणविका—एक चषक और दो।

सागरिका—बस, अब मत पियो। पहले भी तुमने अधिक पिया है। यह इक्षु-सुरा तुम्हारे द्राक्षा-रस से अधिक उग्र होती है, माणविका!

माणविका—दो, मुझे पीने से मत रोको। मैं आज सारा कादम्ब पी जाना चाहती हूँ। रोको मत सखी, और दो।

सागरिका—नहीं अब मत पियो। अरे तुम कैसी हो रही हो ? जैसे तुमने अपने को भुला दिया है। हैं, हैं, अरे गिरी जा रही हो। ठहरो, तुम्हें पर्यङ्क पर लिटा देती हूँ, चलो।

माणविका—मेरे प्राण आसव बनकर विश्व को विभोर कर दें।

सागरिका—हमारा गण विजयी होकर लौटे।

चतुर्थ-दृश्य

['वामरथों की जय' 'मद्रकों की जय' के नारे लगते हैं]

वामरथों में से—यदि अपना कल्याण चाहते हो तो माणविका को लौटा दो ।

मद्रकों में से—यह नहीं हो सकता । माणविका परिणीता वधू है वह लौट नहीं सकती ।

वामरथों में से—तो मरने के लिए तैयार हो जाओ । हम एक-एक मद्रक का नाश कर देंगे ।

मद्रकों में से—बहुत बातें मत करो । युद्ध में ही बल की परीक्षा होती है । आओ युद्ध करो ।

वामरथ—वामरथ गण की जय ।

मद्रक—मद्रक गण की जय ।

वामरथ—मरने के लिए तैयार हो जाओ ।

मद्रक—तुम भी । आओ युद्ध करो ।

(परशु, भाले, कृपाण खनखना उठते हैं, इसी समय)

माणविका—ठहरो, ठहरो, युद्ध बन्द करो ।

वामरथ—कौन, माणविका ? वामरथ की जय ।

मद्रक—माणविका, तुम जाओ । मद्रक गण की जय ।

माणविका—मैं वामरथों की पुत्री और मद्रकों की वधू हूँ । मैं चाहती हूँ युद्ध बन्द हो ।

वामरथ—मद्रकों ने हमारा अपमान किया है । माणविका को छीनकर ले चलो ।

मद्रक—वामरथों ने हमारे ऊपर आक्रमण किया है, इसलिए हम उन्हें दण्ड देंगे ।

माणविका—क्या युद्ध किसी भी तरह बन्द नहीं हो सकता ?

सब—युद्ध होगा। युद्ध बन्द नहीं होगा।

माणविका—यह मेरा सिर आप दोनों की भेंट है।

(सिर काट देती है)

वामरथ—(चिल्ला कर माणविका, यह तुमने क्या किया ?

श्रुतबुद्धि—अरे, अरे, माणविका ! यह क्या कर दिया प्रिये !

(सब लोग युद्ध बन्द करके माणविका को घेरकर खड़े हो जाते हैं।)

वामरथ—अब युद्ध व्यर्थ है।

मद्रक—अब युद्ध की आवश्यकता नहीं है। किन्तु माणविका का बलिदान ! वह मद्रकों की वधू थी।

वामरथ—वह वामरथों की कन्या थी।

सब—वह दोनों की थी।

श्रुतबुद्धि—आज से मद्रकों का वामरथों से कोई वैर नहीं है।

सब—माणविका का बलिदान चिरंजीवी हो। माणविका की जय। हमारी कटुता, शत्रुता का अन्त हो गया। आज से हम एक हैं। वामरथ मद्रकगण की जय !

(उपसंहार नेपथ्य से)

इसके पश्चात् कई मास तक एक व्यक्ति की आवाज सुनाई देती रही। 'माणविका ! प्रिये माणविका !' किन्तु कभी कोई उत्तर नहीं मिला। कभी-कभी प्रतिध्वनि टकराकर कह उठती थी, 'माणविका !'



यह नाटक रेडियो-टेकनीक के आधार पर लिखा गया है, इसलिए यह ध्वनि-प्रधान है, संकेत तथा निर्देश प्रधान नहीं है।

—लेखक

गिरती दीवारें

(१६ वीं सदी का एक चित्र)

पात्र-परिचय

राव साहब	...	१६ वीं सदी के एक रूढ़िधारी कुल का स्वामी—कुलपति
विजय मोहन	.	राव साहब का बड़ा लड़का
प्रद्युम्न कुमार	...	राव साहब का छोटा लड़का
मुन्शी	...	राव साहब का पुराना मुन्शी
रामनारायण	..	राव साहब का नौकर
कान्ता	..	प्रद्युम्न कुमार की लड़की
मिस साहब	..	कान्ता की 'ईसाई' अध्यापिका

रामनारायण की लड़की, अन्य नौकर आदि।

गिरती दीवारें

[एक पुराने रईस का कमरा—देसी ढग से सजा हुआ। जमीन पर एक तरफ मोटा गद्दा बिछा है, जो आधे से अधिक कमरे को घेरे हुए है। दरवाजे के पास किनारे-किनारे कुर्सिया रखी हुई है—बेंत की बनी हुई। गद्दे पर गाव-तकियो की कतार ठीक ढग से रखी है। एक तरफ कोने में एक मेज पर तावे का लोटा रखा है।

दीवार पर विभिन्न प्रकार के चित्र लगे है। एक ओर उस वश के पूर्वजो के चित्र लगे है। प्राय प्रत्येक चित्र में उस हिस्से के पूर्वज चोगा पहने हुए हैं। कान को ढके हुए एक विशेष नोक वाला साफा है। ऐसी नोक जन-साधारण अपनी पगडी में नही रखते। यही इस परिवार की विशेपता है—चोगा और पगडी।

कमरे के वातावरण को देखकर ज्ञात होता है कि पुरानी रूढियो को पालना इस कुल का परम लक्ष्य है। कोई ऐसी बात, जो अब तक नही हुई, इस घर में नही हो सकती। जिस ढग से बात करने का नियम है उसी ढग से बात करना सिखाया जाता है। प्रत्येक लडके को यही सीखना होता है कि इस कुल की परम्परा क्या है। परम्परा के विरुद्ध कुछ नहीं होता '

कुलपति अस्सी-पिच्चासी वर्ष के व्यक्ति है। उनका शरीर शिथिल है। अपने पूर्वजो की पोशाक में कालीन पर जा बैठते है। उनकी आज्ञा है कोई भी व्यक्ति उस कमरे में जोर से न बोले, बिलकुल धीरे अदब-कायदे से आए। जूते दरवाजे के पास उतारे। यदि जूते न उतारने हो तो दीवार के किनारे-किनारे लगी हुई कुर्सियो पर बैठे।

यही उस कुल तथा कमरे की रक्षा का उपाय है। उस कमरे में स्त्रिया नहा आ सकतीं। छोटी-छोटी लड़किया भी नही। उनके लिए इस कमरे के पीछे बड़े कमरे में उठने-बैठने का स्थान निश्चित है।

मुख्य कमरे के साथ एक छोटा कमरा है जिसमें कुलपति का पुराना मुन्शी बैठा रहता है। उसके सामने रजिस्टर-बहिया एक डेस्क पर फैली है। वह छोटा कमरा उस कमरे से दिखाई देता है। केवल मान-रक्षा के लिए एक पर्दा डाल दिया गया है। आवश्यकता होने पर पर्दा हटा दिया जाता है। पर ऐसा बहुत कम होता है, प्राय उस समय जब बड़े आदमी घर पर नही रहते। एक बात और उस घर का कोई व्यक्ति पैदल नही चल सकता। उसे गाडी पर जाना होगा।

कहा जाता है उनके पूर्वज किसी राजा के यहा एक बडे पद पर नियुक्त थे। महाराजा उनको बहुत मानते थे। यहा तक कि महलो और अपने घर के सिवा वे कभी पैदल नही चले। सदा बन्द गाड़ी में चलते। नगर के बहुत-से व्यक्तियो ने उनको नही देखा था।

तब से कुल का बडा लडका, जो घर का मालिक होता था, इस नियम का पालन करता था। फिर भी पैदल चलना, बिना चोगे, पगडी के दीवानखाने में आना असम्भव समझा जाता था। वृद्ध का एक लडका था जो उसी नियम का पालन करता था। गृह-स्वामी कभी-कभी उस कमरे में आते है।

कमरे में उत्तर की तरफ क्रमश तीन आसन (कालीन) गाव-तकियो के साथ बिछे है। उन पर क्रमश वश के पूर्वज बैठा करते थे। प्रत्येक आसन पर उन पूर्वजो के चोगे, पगडी और खड़ाऊ रखी है। खड़ाऊं पर फूल चढे है। चौथा आसन ठीक इसी प्रकार का गृह-पति का है। उसके साथ ही लडके का आसन है। गृह-पति के आसन पर तीन गाव-तकिये और लड़के के आसन पर एक नक्काशीदार डेस्क है।

उस कमरे में घुसने का कायदा यह है कि सिवा गृह-पति के जो भी व्यक्ति उस कमरे मे आये उसे तीन बार झुककर सलाम करनी पड़ती है। गृह-पति के आसन के पास एक गोल कटोरा और एक छोटा-सा डंडा रखा है। स्वामी जब किसी को बुलाना चाहते है तो कटोरे को डडे से बजाते हैं।

इस समय कमरा खाली है। एक नौकर है, जो कमरे की धूल झाड रहा है। यह प्रत्येक आसन के पास जाकर तीन बार झुककर सलाम करता है, फिर सब चीजो को साफ करता है। साफ करते हुए कभी-कभी सीटी बजाता है, बोलता नही। एकाएक नौकर की लडकी रोती हुई दौड़ी आती है।]

लडकी—(ज़ोर से) काका, काका ओइ काका!

नौकर— (डर से मुह पर उंगली रखकर) चुप ?

लडकी—काका, भैया चौतरे से गिर पडा, काका। उसके खून निकल आया। अम्मा बुला रही हैं। चलो जल्दी।

नौकर—(बहुत धीरे से) तू जा, मै आया। राँड कहीं की! चिल्ला रही है। जा ।

लडकी—चलो न काका, चलो।

नौकर—जा · ·। (उसी स्वर में पास जाकर कमरे से बाहर कर देता है। लड़की रोती-रोती चली जाती है)

(सहसा पीछे से वृद्ध का प्रवेश)

राव साहब—(धीरे से) रामनारायण ? यह क्या! अरे तुमने यह क्या किया ? तुम्हें मालूम है आज तक इस कमरे में कोई ज़ोर से नहीं बोला। बड़ा गज़ब हो गया रे। (स्वय कापने-सा लगता है) देखते हो हमारे पूर्वज इसमें रहते हैं। (इतना कहने के साथ प्रत्येक आसन को झुक-झुक कर सलाम करते है, रामनारायण एकदम स्वामी का आना जानकर कापने लगता है।)

राव साहब—यह तो बुरा हुआ, बहुत बुरा हुआ ! (बैठकर डंडे से कटोरा बजाते हैं) ठहरो ! तुम इस कमरे से नहीं जा सकते, ठहरो ! (घंटी की आवाज से वृद्ध मुन्शी आ जाता है । आने पर वह भी तीन बार झुककर सलाम करता है) मुन्शी, सुनो मुन्शी, रामनारायण ने मेरे वंश की प्रथा को तोड़ा है । सुना मुन्शी, इसने परम्परा से चली आई प्रथा को तोड़ डाला है । इस कमरे में मेरे पूर्वज निवास करते हैं । (इसके साथ प्रत्येक आसन की ओर हाथ उठाता है मानो उन्हें सलाम कर रहा हो) मैंने कोई भी व्यक्ति इस कमरे में जोर से बोलते नहीं देखा । अपने समय में ही नहीं, पिताजी के समय में भी ।

मुन्शी—मैं स्वयं पचास वर्ष से रह रहा हूँ, श्रीमान् ! मैंने आज-तक ऐसा अनर्थ नहीं देखा । यह तो बुरी बात है ।

राव साहब—न जाने क्या होने वाला है ?

मुन्शी—मुझे रात से ही भयङ्कर स्वप्न आ रहे हैं । प्रातःकाल यह हो गया ।

नौकर—महाराज क्षमा चाहता हूँ ।

राव साहब—कभी ऐसा नहीं हुआ । हम लोग सदा से ही मर्यादा का पालन करते आये हैं । इसको मेरे सामने से हटा दो मुन्शी ! ओह वह देखो, ओह वह देखो । पिता, पितामह, प्रपितामह के चोगे क्रोध से हिल रहे हैं । देखते हो ना ? अरे (ऊपर देखकर) सब पूर्वजों के चित्र मेरी ओर क्रोध से देख रहे हैं । न जाने क्या होने वाला है ?

[मुन्शी नौकर को हाथ से पकड़कर बाहर निकाल देता है]

मुन्शी—अनर्थ यहीं तक नहीं हुआ । रामनारायण की लड़की आ गई ।

राव साहब—(डर के मारे आँखें बन्द कर लेता है । काँपता हुआ) लड़की आ गई ? क्या वह लड़की थी मुन्शी ? (बैठकर) अब

क्या होगा ? गज़ब हो गया। अनर्थ हो गया (चित्रों की ओर झपकती हुई आखो से देखता हुआ) मर्यादा भंग हो गई। (डर के मारे दूसरी वार कटोरा वजा देता है) हैं, यह क्या हुआ। यह दूसरी वार कटोरा क्यों वज उठा ? ऐसा कभी नहीं हुआ। यह अनहोनी बात है, मुन्शी !

मुन्शी—जी ! अनहोनी वात है। न जाने क्या होने वाला है ? ऐसा तो इस घर में कभी नहीं हुआ।

राव साहव—हां, रामनारायण के दंड की व्यवस्था करनी होगी। भयकर वातें हो रही हैं इस घर में। देखो, विजयमोहन (वडा लडका) कहाँ है ? रात में एक भयंकर स्वप्न देखा था मुन्शी ! (एकदम गाव तकिए का सहारा लेकर आखे वन्द कर लेता है। चेहरा पीला पड जाता है। मुन्शी पखा करने लगता है। रामनारायण कटोरे की आवाज सुनकर लौट आता है) अरे, यह फिर आ गया ? फिर आ गया यह। इसने मेरे सारे स्वप्न भग कर दिए। जा दुष्ट, तूने मेरे जीवन का अन्तिम सुख छीन लिया। दूर हो (राव साहव के लडके का अस्त-व्यस्त अवस्था में प्रवेश) अरे ! यह क्या ? चोगा फट कैसे गया, विजय ? गजव हो गया। न जाने क्या होने वाला है ?

विजयमोहन—(खेद के साथ तीन वार पूर्वजो की गद्दी को सलाम करके) न जाने क्या होने वाला है पिताजी ? आज मुझे जीवन में पहली वार पैदल चलना पडा। सव लोग देख रहे थे।

मुन्शी—वंश की प्रतिष्ठा सव नष्ट हो गई, महाराज ! चोगा फट गया।

राव साहव—न जाने क्या होने वाला है ? (तकिए पर ढुलक जाता है। सव लोग सम्हालने दौड़ते हैं।)

विजय—न जाने क्या होने वाला है, मुन्शी रास्ते में आते-आते मेरी गाडी एक दूसरी गाडी से टकरा गई। लोगों ने मुझे देख लिया। ओ ! मेरा चोगा फट गया ! वहुत ही अशुभ चिह्न है मुन्शी !

मुन्शी—हाँ बाबू ! न जाने क्या होने वाला है ? आज सवेरे रामनारायण की लड़की कमरे में घुस आई और चिल्लाने लगी।

विजय—है (आश्चर्य से) है ? ऐसा क्यों ?

मुन्शी—हां बाबू ! लक्षण अच्छे नहीं हैं। इस घर ने सदा मर्यादा का पालन किया है। आज तक किसी ने भी इन पूर्वजों के सामने ज़ोर से बातें नहीं की।

विजय—मैं बहुत दिनों से देख रहा हूँ इस घर की प्रतिष्ठा के दिन समाप्त होने जा रहे हैं।

रावसाहब—(चैतन्य होकर) क्या कहा ? प्रतिष्ठा के दिन समाप्त होते जा रहे हैं। मेरे रहते ही क्या, विजयमोहन ? नहीं ऐसा न कहो। (चित्रों को प्रणाम करते हुए) क्रोध न कीजिए। मैंने भरसक इस घर की मर्यादा की रक्षा की है। तुम्हारी आज्ञा का पालन किया है। देखो विजय, रामनारायण बिना खाये पिये मेरे इन पूर्वजों के सामने हाथ जोड़े मौन खड़ा रहेगा। समझे ! यही हमारे वंश का दंड है, उनके लिए जो हमारे नियम भंग करते हैं। (चुप रहता है) मैंने सुना है, देखा नहीं, कि दादा जी के समय में कोई सम्बन्धी इस कमरे में घुस-कर ज़ोर से चिल्लाया तो उन्होंने उसे सात दिन तक निराहार रहकर खड़े रहने का आदेश दिया था। जब वह मूर्छित हो गया तो उसे खाट से बाँधकर खाट खड़ी कर दी गई थी। वंश-मर्यादा का तोड़ना सा साधारण बात नहीं, विजय !

विजय—यथार्थ है पिताजी !

मुन्शी—मैं पचास वर्ष से इस घर का अन्न खा रहा हूँ। मैंने कभी नहीं देखा कि किसी ने वंश-मर्यादा में बट्टा लगाया हो, वंश की मर्यादा में धक्का लगाकर उसे पीछे धकेला हो। आखिर यह महाराज के कोषाध्यक्ष का कुल है। मुझे याद है पुराने स्वामी कभी भी बाहर नहीं

निकले। एक बार गाँव के बाहर लोगों ने उनके दर्शनों की इच्छा प्रकट की। तब वे पालकी में बैठकर एक बार गांव गए—केवल एक बार। वहाँ भी गाँव के लोगों ने उनके दर्शन पर्दे मे किये। उस समय गाँव के लोगों को ऐसी प्रसन्नता हुई जैसे भगवान उतर आए हो। बाहर वे कभी न निकले। अंग्रेज़ों के दरबार में भी वे जाते रहे। सरकार बहादुर ने उनके मिलने का ख़ास प्रबन्ध किया था। उनसे कह दिया था कि आपके आने की कोई आवश्यकता नहीं है। सरकार आप पर बहुत ख़ुश हैं।

राव साहब—तुम ठीक कहते हो मुन्शी। यही बात है। तब से इसी तरह मैं भी बाहर आता-जाता रहा हूँ। तीस वर्ष पूर्व जब मैं तीर्थ-यात्रा को गया तब भी पालकी ही में यात्रा की। एक बार चलते-चलते हमारे पालकी वाले कीचड में फँस गए। उस समय गाँव-वालों ने ही मेरी सहायता की; मैं पालकी से नहीं उतरा। मेरा विश्वास है जब तक हम अपनी वंश-मर्यादा का पालन करते रहेंगे तब तक हमारा नाश नहीं होगा। मेरे प्रपितामह ने एक बार स्पष्ट कहा था, हमारा वंश बहुत ऊँचा है—हम लोग साधारण मनुष्यो में से नहीं हैं। हमारे ऊपर विशेष कृपा करके ईश्वर ने हमारे वंश का निर्माण किया है। यही कारण है इस वंश को आज तक कभी पतन का दुःख नहीं देखना पड़ा।

विजय—ठीक है। मेरी ही समस्या को लो। मैंने आज तक उन्हीं नियमों का पालन किया है। आज न जाने कहाँ से यह सब हो गया?

राव साहब—मुझे डर है कि प्रद्युम्न कुमार हमारे इस वंश की रक्षा कर सकेगा? वह अंग्रेज़ी पढ़कर तहसीलदार हो गया है। मेरे मना करने पर भी वह राजकुमार कालेज में पढ़ने गया था। हमारे घर में कोई भी घर से बाहर पढ़ने नहीं गया। सदा घर पर ही अध्यापक रखकर पढ़ाया जाता रहा है, केवल इसलिए कि मर्यादा भंग न हो। बाहर का वातावरण तो विष से भरा होता है न, मुन्शी?

मुन्शी—सच है हुज़ूर।

राव साहब—न जाने कौन क्या कह दे ? क्या परिस्थिति हो ? हम लोग साधारण मनुष्य नहीं हैं। इसलिए अख़बार नहीं मँगाते। मैंने कोई समाचार-पत्र नहीं पढ़ा।

विजय—मैंने भूल से एक दो बार समाचार-पत्र पढ़ा था। तभी मैंने देखा कि समाचार-पत्रों में बहुत-सी बातें झूठ होती हैं। उदाहरण के लिए यह कि अमुक देश में अकाल पड़ गया। हज़ारों लोग भूखों मर गए। भला यह कोई बात है। उस जगह का अनाज कहाँ गया ? 'देश में हज़ारों की संख्या में बाल विधवाएं हैं—बाल विधवाएं।' मैंने नहीं सुना हमारे नगर में दो-चार भी बाल विधवाएं हों। इन समाचारों से लाभ क्या है, मैं पूछता हूं। एक बार किसी ने लिखा कि आदमी हवाई जहाज़ से उड़ सकता है, भला यह भी विश्वास करने की बात है कि आदमी उड़ने लगे। आख़िर कौन-सी चीज़ है जिस पर बैठकर आदमी उड़ेगा।

मुन्शी—गप्प है, बिलकुल गप्प है। न जाने क्यों सरकार ने इस पर रोक-थाम न लगाई ?

राव साहब—भाई कलियुग है। कलियुग में जो न सुनने में आए सो थोड़ा है। शिव ! शिव ! न जाने क्या होने वाला है ? सुना है रेल नाम की कोई चीज़ बनी है जो जल्दी ही एक जगह से दूसरी जगह पहुँचा देती है। मैं कहता हूँ कि हमें इधर-उधर जाने की आवश्यकता क्या है ? हमारे घर में क्या नहीं है ?

विजय—एक बार एक अंग्रेज हमारे घर में आ गया। (पिता से) जिन दिनों आप तीर्थ-यात्रा को गये थे। तो मैं बड़ी दुविधा में पड़ गया। क्या करूँ ? कहाँ बिठाऊँ ? मैंने बाहर दालान में तख़्त बिछवाए। गद्दी, क़ालीन, तकिये ठीक तरह जमा दिये। वहाँ मैं उससे मिला। उसके बाद सारा घर गोबर से पुतवाया, सब कपड़े धुलवाए।

गङ्गाजल छिड़कवाया। तब कहीं जाकर घर पवित्र हुआ। घर की मर्यादा है!

मुन्शी—मैं भी तो था।

राव साहब—मुझे गर्व है तुम्हें से पुत्र मेरे घर हुए। फिर भी इस कमरे में तो ऐसे अनजाने को आने का अधिकार ही नहीं है। अच्छा हुआ उसने हमारे पूर्वजों के चित्र देखने का आग्रह नहीं किया, नहीं तो बड़ी कठिनाई आती।

विजय—उसने कहा था कि हमें अपना घर दिखाओ। मैंने कहा—पिताजी नहीं हैं, मकान की चाबी उनके ही पास है। वे तीर्थ-यात्रा को गये हैं। मैं स्वयं उससे दूर एक ओर तख़्त पर बैठा था। जब उसने मिलाने को हाथ उठाया तो मैंने दूर से ही हाथ जोड़ दिए, उसके पास नहीं गया। फिर भी मैंने सब कपड़ों के साथ स्नान किया। क्या करता? अंग्रेज़ नाराज़ हो जाता तो न जाने क्या होता?

राव साहब—अब न जाने क्या होने वाला है? हम लोगों को अपनी मर्यादा नहीं छोड़नी चाहिए, विजय!

[एक नौकर का प्रवेश]

नौकर—(तीन बार सबको सलाम करके) श्रीमान्, छोटे राजा पधार रहे हैं।

राव साहब—प्रद्युम्न! प्रद्युम्न आया है क्या? अच्छा!

विजय—आज ठीक तीन वर्ष बाद लौट रहा है। न जाने कैसा होगा?

मुन्शी—अब अंग्रेज़ों से बात करने में हमें सुविधा होगी।

[प्रद्युम्नकुमार का प्रवेश, चालीस वर्ष की वयस, कोट-पतलून पहने, सिर प टोप। उसे देखते ही जैसे लोग उसे पहचानते नहीं

है। आश्चर्य से अभिभूत केवल पिता को ही प्रणाम करता है और किसी को नही]

प्रद्युम्न कुमार—(केवल हाथ जोडता हुआ जूते उतारकर पिता के पास आ जाता है। चोगा और पगडी उसके सिर पर नही है। यह उन लोगो के लिए आश्चर्य की बात है) मेरा तबादला दूसरी जगह हो रहा था, मैंने सोचा चलूँ आपसे मिल लूँ। कहिए आपका स्वास्थ्य कैसा है? और भैया तुम? तुम्हारे भी बाल सफ़ेद हो रहे है। आज-कल बड़ा काम रहता है। या तो भाग-दौड़ या फिर दफ़्तर का ढेरों काम। सिर उठाने को भी समय नहीं मिलता। आप बड़ी हैरानी से मेरी ओर देख रहे हैं? ओह समझा, शायद इसलिए कि मैंने टोप नहीं उतारा। ठीक क़ायदा यह है कि जब अपने से बड़े के सामने जायँ तो टोप उतार लेना चाहिए। बात यह है कि जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ मुझसे बड़ा कोई नहीं है। इसलिए जब कोई बड़ा अफसर आता है तो मुझे टोप उतार देना होता है (टोप उतार कर) क्यों आप कोई बोल नहीं रहे हैं, क्या बात है? समझा, शायद इसलिए कि मैंने टोप पहन लिया है, अंग्रेज बन गया हूँ। क्या किया जाय पिताजी, अंग्रेज़ों के साथ रहकर ऐसा करना पड़ता है। न करूँ तो गाँव वालों पर रौब न जमा पाऊँ। रही चोगे की बात, वह तो वहाँ पहनना तमाशा ही होता। मैं मजबूर हूँ।

[रोव साहब सिर हिलाते है जैसे अभी ढुलक कर गिर पड़ेंगे और मुशी आखें फाडकर देखते है।]

विजय—तुमने वंश की मर्यादा नष्ट कर दी प्रद्युम्न! तुम पिता के सामने इस वेश में आए? आने से पहले तुम्हें दो बार सोच लेना चाहिए था। अच्छा होता यदि तुम न आते।

प्रद्युम्न—(आश्चर्य से) सुनो भैया, मै क्यों न आता? यह मेरा घर है, मेरी जायदाद है। मैं क्यों न आता? मै रंडियों की-सी

पेशवाज़ पहनकर कचहरी नहीं कर सकता। सिर पर व्यर्थ का गट्ठड़ नहीं रख सकता। समय बदल गया है, हमको भी बदलना चाहिए! क्या रखा है इन पुरानी बातों में।

विजय—तो तुम्हारे विचार में पुरानी बातें बुरी होती हैं? तुम्हारा शरीर भी तो चालीस साल पुराना हो गया है उसे क्यों नहीं छोड़ देते?

[पिता और मुंशी इस तर्क पर प्रसन्न होते हैं]

प्रद्युम्नकुमार—यह भी विचित्र तर्क है। क्या शरीर छोड़ना-न-छोड़ना मेरे हाथ में है? उस ईश्वर ने शरीर दिया है जब चाहेगा तब ले लेगा। जब उसे लेना होता है तो वह यह थोड़े ही देखता है कि शरीर नया है या पुराना।

[दोनों उदास हो जाते हैं]

विजय—तब यही कैसे कह सकते हो कि पुरानी बातें बुरी हैं। हम भी तो, पिताजी भी तो मनुष्य हैं, हमें ये बातें बुरी नहीं दिखाई देतीं।

प्रद्युम्नकुमार—आप लोग घर में रहते हैं। मुझे बाहर आना-जाना होता है, लोगों से मिलना-जुलना पड़ता है। मुझे समय के साथ चलना होगा। मैं पैदल भी चलता हूँ, गाड़ी में भी चलता हूँ।

राव साहब—(आश्चर्य से) पैदल भी? न जाने क्या होने वाला है इस घर का? (तकिए पर मुँह लटकाकर गिर पड़ता है)

विजय—(एक दम दौड़कर पिता को सम्हालता है, मुंशी पखा करता है) बड़ा अनर्थ हो रहा है। देखो, देखो, प्रद्युम्न पूर्वजों के चित्र क्रोध से इनको देख रहे हैं। उनके क्रोध से हिल रहे हैं। कमरे का वातावरण गुम-सुम हो गया है। हमारी वाणी सूखी जा रही है। क्या तुम कुछ भी नहीं देखते? अच्छा तुम इस घर से चले जाओ।

[राव साहब होश में आते है । प्रद्युम्न उनकी तरफ देखता है—देखता हा रहता है । फिर एक बार चित्रो की ओर देखता है । इतने में एक लडकी—प्रद्युम्नकुमार की—जो लगभग १० वर्ष की है, कमरे में दौडती हुई आ जाती है । कन्या एक फ्राक पहने है, अग्रेजी ढग के बाल कटे है । टागें खाली, जूते पहने चली आती है, उसके साथ उसकी ईसाई अध्यापिका भी घुसती है । दोनो जते पहने भीतर आ जाती है और लडकी उसे सब चित्र आदि दिखाती है ।]

कान्ता—देखती हो मिस साहब, ये मेरे बाबा हैं । बाबा, ओ बाबा !

कान्ता—(बाबा के पास दौडती हुई रुककर) ये हम लोगों के बाप-दादों की तसवीरें हैं, अरे बाबू जी, आप भी बैठे है । गुम-सुम चुप-चाप ।

मिस—(आश्चर्य से देखकर) वेरी स्ट्रेन्ज ड्रेस ! हाऊ आक्वर्ड इट लुक्स ?

[सब लोग चित्र-लिखे-से रह जाते है मानो उन्हे काठ मार गया हो । जैसे ही वे कमरे में आने लगी थी एक नौकर उन्हे रोकने आया था । किंतु साहस न होने के कारण बाहर दरवाजे पर खड़ा हो गया, वही खडा रहता है]

विजय—कान्ता बाहर जाओ ! जाओ बाहर !

मुन्शी—मिस साहब बाहर जाइये !

राव साहब—न जाने क्या होने वाला है ? आज स्वप्न सत्य हो रहा है । मै अब और (सिर लुढक जाता है) और न ···ही (डर से दोनो स्त्रिया बाहर चली जाती है ।) लोग राव साहब को सम्हालते है । प्रद्युम्न भी पिता के पास आता है) तुम मुझे मत छुओ, प्रद्युम्न । हाथ मत लगाओ । मुझे इसी कमरे मे मरना होगा । बाहर

मत ले जाना। मेरे पिता, पितामह, प्रपितामह इसी कमरे में मरे थे—इन्हीं आसनों पर। यही वंश की मर्यादा है। (हाथ चित्रों को प्रणाम करने के लिए उठते हैं) नहीं अब और नहीं। सब समाप्त हो चुका।

वं· ·श· ·की ·म ·र्या· ·दा· ·

[मर जाता है। लोग चित्राभिभूत से खड़े रहते हैं]



पिशाचों का नाच

पात्र

चंद्रिकानाथ	सुषमा का पति
माणिक्य	चंद्रिकानाथ का छोटा भाई
रवि	गाँव का पुरोहित
वीरू	गाँव का चौधरी
अनिल	उद्धारकर्त्ता नवयुवक
विश्वास	उद्धारकर्त्ता नवयुवक
सुषमा	चंद्रिकानाथ की स्त्री
शुभदा	माणिक्य की स्त्री
गोपा	चंद्रिकानाथ की कन्या
प्रमिला	चंद्रिकानाथ का पुत्र

अन्य नवयुवक आदि।

पिशाचों का नाच

[साधारण हिन्दू गृहस्थ का घर—कमरे के सामने का एक बरामदा, इसके आगे छोटा-सा आगन। बरामदे में सब सामान अस्त-व्यस्त पड़ा है। आगन में जली हुई चीज़ो का ढेर है। आधे जले हुए कपड़ो, पुस्तको, कुर्सियो और मेजो के टुकड़े बिखरे पड़े हैं। कमरे के दर्वाज़े टूटे हुए हैं। बरामदे में सब सामान उलट-पुलट दिया गया है। कई कपड़ो में खून के धब्बे लगे हैं। स्वय चद्रिकानाथ की अवस्था चालीस के लगभग है, खून मे रँगी चादर ओढे पड़ा है। उसका एक पैर काट डाला गया है। उसके पास चटाई पर गोपा नाम की आठ वर्ष की लड़की है, जिसका सिर, उठाकर फेंके जाने के कारण, भिच गया है। उसके सिर में बड़े-बड़े गूमड़े पड़ गए हैं। उसके पास दस वर्ष का एक लड़का अमिल ज़मीन पर पड़ा है, जिसमें अब प्राण शेष नही है। इस तरह केवल दो प्राणी जीवित हैं। मृत्यु की तरह सुनसान सायंकाल का समय, झुटपटा हो रहा है। दोनो प्राणी रह-रह कर कराह उठते हैं। दोनो अपने स्थान पर पड़े हैं, हिल-डुल नही सकते। इससे पूर्व दोनो बेहोश पड़े थे और अपने-आप दोनो को कभी-कभी होश आ जाता था। इस समय कष्ट की तीव्रता के कारण कभी-कभी कराह उठते हैं, कभी-कभी 'पानी पानी' का स्वर उनके कठ से निकलता है। र पानी देने वाला कोई नही है, इसलिए नी की पुकार कभी दर्द में और कभी बेसुधी में स्वय डूब जाती है। फिर 'पानी, पानी' कहकर कराह उठते हैं। इसी स न घर में माणिक्य नाम का एक व्यक्ति आता है

की अवस्था देखने के बाद दोनो के मुँह मे पानी डालता है। फिर दौड-कर जले हुए कपडो में से एक कपडा फाड़कर पहले चद्रिकानाथ के, फिर उस लडकी के पट्टी बाधता है। उसकी आखो में रह-रहकर आसू आ जाते है। फिर थोडा भात लाकर उन्हें खिलाता है। चद्रिकानाथ आखें खोलकर उसे देखता है और चुपचाप विवशता, सकोच से भात खाने लगता है। फिर भी दोनो का कराहना बद नही होता। माणिक्य दोनो के पट्टी बाघने तथा उन्हे भात खिलाने के बाद प्रमिल की तरफ झुकता है वह इस समय औंधा मुह किये पड़ा था। उसे उलट कर देखने से मालूम होता है कि वह मर गया है। वह एकदम दहाड मारकर उसी के साथ बैठ जाता है। कहता कुछ भी नही है। चन्द्रिकानाथ भात खाता-खाता चुपचाप प्रमिल तथा माणिक्य की तरफ देखता है, फिर भात खाने लगता है। लडकी भी चुप है। ऐसा लगता है, जैसे उन तीनो में किसी के भी जबान नही है। तीनो के चेहरे पर भयकर दुख, निराशा के चिह्न है। कभी-कभी जो हवा का झोका आता है, तो मालूम पडता है, मानो मृत्यु फिर रही हो। इस समय ढूढकर माणिक्य बरामदे में एक दीया जला देता है। उस प्रकाश मे वह स्थान और भी भयावना हो उठता है, जो अस्पष्ट था, वह स्पष्ट हो जाता है। चद्रिकानाथ की आखे भय से फटी-फटी-सी दिखाई देती है। उसके हृदय की धडकन बढ जाती है। लड़की भी पिता को देखकर सहमी-सी चुप-चाप बैठी रहती है। दोनो के ऊपर भयकर डर छाया हुआ है। माणिक्य उठकर चद्रिकानाथ के पास बैठ जाता है। चद्रिकानाथ उसे देखता रहता है। लडकी डरकर पिता के पास आ बैठती है। कभी वह औंधे मुह पड़े हुए भाई की तरफ देखती है कभी गुम-सुम पिता की बगल से चिपट जाती है। बहुत देर तक यही अवस्था रहती है]

माणिक्य—राक्षस, नीच, क्या मनुष्य इतना क्रूर भी होता है?

चंद्रिकानाथ—(चुप रहता है)

माणिक्य— (क्रोध में भरकर) गाँव-का-गाँव जला डाला। स्त्रियों को उठाकर ले गए। बच्चों को निर्दयता से मार डाला। कोई भी व्यक्ति नहीं बच पाया है। (आकाश की ओर देखकर) तुम तो न्याय-कारी हो, क्या तुमने भी कोई सहायता नहीं की ? मेरे भाई की यह दशा, भतीजा मरा पड़ा है, लड़की अधमरी हो गई है, मेरी और भाई की पत्नी का कहीं पता नहीं है—और तुम सब बराबर देखते रहे ? वह छोटा बच्चा—क्या उसे दुष्टों ने मार डाला होगा ? अवश्य उसके नवीन रुधिर से उन पामरों ने हाथ धोए होंगे। चुल्लू में भर-भर कर पिया होगा। और तुम देखते रहे ? (आवेग में आकर टहलने लगता है) मैंने मधुपुर के मार्ग में ही लोगों से सुन लिया था।

चंद्रिका—मेरा तो सब-कुछ भस्म हो गया, भैया! अच्छा हुआ तुम उस समय यहाँ न थे। नहीं तो ·········नहीं तो, न जाने तुम्हारा क्या होता ?

माणिक्य—आखिर, यह सब एकदम हो कैसे गया ? क्या गाँव वालों ने अपनी रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया ? तीन ही दिन तो मुझे गए हुए होंगे।

चद्रिका—(लड़की गोपा के सिर पर हाथ फेरते हु और मरे हुए लड़के की तरफ देखकर) माणिक्य, प्रमिल को एक बार इधर उठाओ, मैं अच्छी तरह उसकी सूरत तो देख लूँ। (अपने-आप उठने का प्रयत्न करता है, पर उठ नहीं सकता) हाय, मेरा घर बरबाद हो गया।

गोपा—काका ! माँ !

माणिक्य—(ठहरकर) अब तो हृदय वज्र बनाकर रखो, भैया! उसकी सम्पूर्ण कोमलता को किसी ने चटनी को तरह पीस डाला है। क्या करूँ ? अरे मनुष्य, क्या तू मनुष्य के सामने ही इतना विवश हो गया है ?

चंद्रिका—मैं उस समय दुकान पर था कि इतने में गुण्डों की भीड़ बाज़ार पर टूट पड़ी। का बंद करते-करते उन्होंने दुकानों में आग लगाना, उन्हें लूटना आरम्भ कर दिया। थोड़ी देर में ही सब बाजार लूट-खसोट, मार-काट तथा आग के मुख में चला गया। सुनाई पड़ा—घरों में आग लगाई जा रही है। स्त्रियों से बलात्कार किया जा रहा है। बच्चों को मार डाला है। मैं घर की ओर दौड़ा। दुकान तो जल ही चुकी थी। (चुप हो जाता है)

गोपा—बाबा! प्रमिल? माँ? काकी? बाबा!

माणिक्य—(जोर से सांस लेकर चुप रह जाता है, जैसे सब-कुछ सुनने की अपेक्षा पी रहा हो) हुँ उ उ म्!

चंद्रिका—मेरी वाणी में सामर्थ्य नहीं है, माणिक्य! जो कुछ देखा इन आँखों से। मुझे पकड़कर बाँध दिया। देख रहे हो यह खंभा—जिसे मैंने बनवाया था। मेरी एक टाँग गोपा को चार बार गेंद की तरह उछाला और इसी आँगन में फेंक दिया। प्रमिल—अब मेरा हृदय पत्थर बन गया है, माणिक्य। प्रमिल को नंगा करके भालों पर उछाला। (तकिए का सहारा लेकर चुप हो जाता है और जोर से रोने लगता है। थोड़ी देर के बाद) सुषमा और सुभद्रा की बात कुछ न पूछो, कहूँगा भी नहीं।

माणिक्य—मैं समझता हूं। सब समझता हू। धर्म के नाम पर, राजनीति के नाम पर, यह सब-कुछ किया गया। यह पाप है, जो धर्म की आड़ में उन्माद, बदमाशी, पशुता का ताडव करता समय-समय पर आता है।

चंद्रिका—किंतु अब क्या किया जाय, माणिक्य? इसमें हमारा क्या अपराध है, भा ?

माणिक्य—लोग कहते हैं सत्य की विजय होती है, झूठ है। छल, कपट, धूर्तता, गुण्डापन की विजय को लोग धर्म की विजय

कहकर पुकारते हैं। यह लोगों का सरासर दगा, मक्कारी और फरेब है। मेरे हाथ कमजोर हैं, मैं उसे शांति के नाम से पुकारता हूँ। मैं झूठ नहीं बोल सकता, उसके प्रपंच, उसके दांव-पेच से शून्य हूँ, इस-लिए मैं सत्य की आड़ लेता हूँ। सत्य का प्रचार करता हूँ। क्या तुम लोग इतने निकम्मे हो गए, इतने नपुंसक हो गए कि अपनी रक्षा भी न कर सके?

चंद्रिका—मुझे कसकर बाँध दिया गया था। और मेरे सामने उन नीचों ने बलात्कार का जो दृश्य उपस्थित किया, वह सातों जन्म तक बराबर मरने पर भी शांत नहीं हो सकता। मैंने मौत मांगी, मैं न मरा; मैंने छुटकारे की भरसक चेष्टा की, मैं छूट न सका। हाय, यह सब मेरे सामने हुआ, और मैं आँखें बन्द करके भी देखता रहा, कान बन्द करके भी सुनता रहा। न जाने मेरी इंद्रियाँ इतनी चेतन क्यों हो गईं? (चुप हो जाता है)

(रवि चटर्जी का प्रवेश)

रवि—इधर भी वही है—वही आग, वही मृत्यु, वही अनाचार, वही नाश का नृत्य। क्या तुम्हारी स्त्रियों को भी वे दुष्ट उठा ले गए? बहुत हुआ। अब तो सहा नहीं जाता। मृणालिनी का कुछ पता नहीं है। कुंज न जाने कहाँ सड़क पर घसीटती हुई ले जाई गई। माधुरी के नाक, कान और स्तन काटकर कूड़े की तरह सड़क पर फेंक दिए। विश्वास नहीं होता, फिर भी विश्वास कर रहा हूँ।

चंद्रिका—दादा, अब हम इस प्रदेश में किस प्रकार रह सकेंगे?

रवि—भूमि, आकाश, अतल, वितल, तलातल—कहीं भी हमारे लिए स्थान नहीं। कदाचित नरक भी इससे सुन्दर होगा, चंद्रिका! सब कुछ चला गया। सब कुछ लुट गया। केवल मैं बारह प्राणियों में बचा हूँ, वह भी इसलिए कि संदूकों के नीचे साँपों के किये हुए बड़े-बड़े बिलों में, जहाँ कभी ईंटें रखी थीं, उन्हीं के नीचे

छिप गया था। मेरे घर चलकर देखो—बिखरे कपड़ों की तरह लाशें पड़ी हुई हैं। खिलौनों के समान बच्चों के शव आँगन, कोठरी, आलमारियों में भरे हुए हैं। भाई! मैं यह सब देखने के लिए पत्थर का हृदय, क्रूरता की आँखें बनवा कर लाया हूँ।

माणिक्य—सुना है सारे गाँव में एक भी स्त्री नहीं बची है। एक भी पुरुष स्वस्थ नहीं है। एक भी बालक अक्षत नहीं है।

रवि—हो कहाँ से, हमारे ही पाप गुण्डे बनकर आ गए। हमने पाप क्या थोड़े किये हैं, माणिक्य?

(अनिल और विश्वास नाम के दो युवक गठरिया ले र आते है और उन्हें बरामदे में रख देते हैं। गठरिया खोलने पर सुषमा और शुभदा निकलती है - अधमरी अवस्था में उनके पीछे-पीछे वीरु नाम का गाव का चौधरी आता है। अनिल और विश्वास हाफते-से बैठ जाते है। दोनो स्त्रियो के मुह में माणिक्य और रवि नी डालते है और पास ही चटाई पर लिटा देते है। सुषमा के माथे पर दो बडे-बडे घाव के चिह्न है, जिन पर रुधिर सूखकर चिपक गया है। शुभदा का सारा मुह छूरी से काट दिया गया है, और शरीर में भी घाव है। शरीर दोनो के नगे है। गठरी के कपड़े से ही अनिल ने उन्हे ढक दिया है। गोपा मा व काकी से चिपटकर रोने लगती है)

अनिल—बड़ी कठिनाई से दस स्त्रियों को लौटा र के है। गुण्डों का गिरोह दूसरे गाँव की तरफ बढ़ गया है। शेष स्त्रियों को एक बाड़े में बन्द कर दिया गया है। हम लोग प्रयत्न में है कि रात में उन्हें भी लौटा सके। पर हमारे हाथ तो खाली है न। विश्वेश्वर बनर्जी से बन्दूक माँगी थी, किंतु इससे पूर्व ही पुलिस उनके हथियार छीन ले गई। केवल बकरा काटने के छुरे मिले। उन्हीं से हमने गुण्डों के आक्रमण रोके! कुछ लाठियाँ थीं, कुछ कुल्हाड़ियाँ, बस!

रवि—पर अब इनका क्या होगा ?

वीरू—हाँ, भैया, ब्राह्मण जूठा नहीं खा सकता।

अनिल—अर्थात् ? (दोनो की तरफ आश्चर्य व घृणा से देखता है)

रवि—भोले हो, क्या हिन्दू धर्म की मर्यादा याद नही आती ? माँ काली, न जाने तुम्हारा खड्ग क्यों सो गया ?

विश्वास—हमको अभी फिर लौटना होगा। अनिल, एक-एक स्त्री को वापस लाना होगा। एक-एक बालक को बचाना होगा।

रवि—(चुप रहकर उन दोनो की तरफ देखता रहता है, जैसे उनकी मूर्खता पर हस रहा हो। जैसे तिगोर कर वीरु की तरफ देखता है) क्या होगा ? यह क्या कोई कहने की बात है ?

[दोनो स्त्रियां, जो मुर्दा-सी पडी थी, चौकन्नी हो उठती हैं। आश्चर्य, विचिकित्सा से उनकी मुखाकृति व्यग्र हो उठती है। चन्द्रिका ऐसे देखता है, जैसे फिर गुण्डो का आक्रमण आरम्भ हो गया हो]

माणिक्य—दादा !

वीरू—यह दिन हमको देखना पडेगा, इसकी आशा नही थी, भैया ! मुझे ही देखो, मेरा क्या बचा है ? सब-कुछ ही तो चला गया। (हाथों पर लगी डण्डे की चोट सहलाता है.)

चन्द्रिका—माणिक्य, प्रमिल की लाश उठाकर कोठरी में डाल दो, भैया !

[प्रमिल का नाम सुनते ही सुषमा व्यग्र हो उठती है]

सुषमा—क्या कहा ? प्रमिल ? प्रमिल कहाँ है ?

चन्द्रिका—प्रमिल को मारकर वे दुष्ट चले गए। हाय मेरे बच्चे ! [आखो में आसू भर आते है। सुषमा प्रमिल से चिपटकर लगती है]

रवि—अब रोने से क्या होगा ? यह तो आजीवन रोना है भैया ?

अनिल—आप इन दोनों को सँभालिए। हमें बहुत काम है।

[चन्द्रिका, रवि और वीरू की तरफ देखता है]

विश्वास—हम समझ रहे हैं। क्या तुम्हारा हिन्दू धर्म इतना कमजोर है कि एक निरपराध, निरीह स्त्री को अपने घर में स्थान नहीं दे सकता ? आखिर, इनका दोष ही क्या है ?

अनिल—अब हमें इस धर्म को बदलना होगा।

रवि—भैया, सोचो, क्या धर्म को बदलने की शक्ति हममें है ?

विश्वास—(घबराकर) तो क्या इन स्त्रियों के लिए तुम्हारे घर में कोई स्थान नहीं मिल सकता ?

चन्द्रिका—यह कैसे हो सकता है, रवि दादा ? क्या मेरी पत्नी गोपा की माँ, केवल गुण्डों की बदमाशी से ही विधर्मिणी हो गई ? क्या माणिक्य की पत्नी अब घर नहीं लौट सकती ? नहीं, यह नहीं हो सकता। इतना अन्याय न करो, दादा !

माणिक्य—यह तो बड़ा ही अन्याय है, भैया !

सुषमा—इसमें हमारा क्या अपराध है, दादा ?

शुभद्रा—क्या अब यह घर हमारा नहीं है ?

[दोनों स्त्रियाँ भविष्य की चिन्ता से विवर्ण हो उठती हैं]

अनिल—वीरू बाबू, रवि दादा, हमने निश्चय किया है कि हम गुण्डों के घरों में घुसकर एक-एक महिला को निकालकर ही दम लेंगे। गाँव के सब युवकों का यही दृढ़ निश्चय है। हमारे मार्ग में बाधा मत डालिए। हिन्दू धर्म इतना कमज़ोर, इतना निकम्मा नहीं है कि निरपराध को, निःसहाय को दण्ड दे। जिस हिन्दू धर्म ने हूणों को, शकों को आर्य बना लिया है, वह धर्म अपनी ही सन्तान को अकारण क्यों छोड़ देगा ?

वीरू—ब्राह्मण के घर जन्म लेने तथा दादा से यही सुनते रहने के कारण मैं इतना जानता हूँ कि हिन्दू धर्म में आज इन विधर्मियों द्वारा दूषित स्त्रियों के लिए कोई स्थान नहीं है। इन्हें तो छोड़ना ही होगा।

रवि—तुम ठीक कहते हो, भैया! जो जूठा खा सकता हो खाए, मैं थोड़े दिनों के जीवन के लिए अपने को भ्रष्ट नहीं कर सकता। ब्राह्मण का जन्म क्या बार-बार होता है।

माणिक्य—तो तुम यह चाहते हो कि मैं निरपराध अपने भाई की पत्नी को छोड़ दूँ? आखिर इसमें इनका दोष भी तो हो?

रवि—दोष किसी का भी हो, धर्म दोष नहीं देखता। उसे तो अपनी मर्यादा का पालन करना ही होगा, माणिक्य चक्रवर्ती!

माणिक्य—किन्तु यह तो घोर अन्याय है समाज का, हिन्दू धर्म का। ऐसा धर्म कितने दिन टिक सकता है?

रवि—जब टिक सकता है तभी तो टिका हुआ है, भैया!

वीरू—इतने विधर्मी हो जाने पर भी क्या हिन्दू धर्म का नाश हो गया?

अनिल—अब तक यदि इसका नाश नहीं हुआ, तो अब हो जायगा, वीरू दादा। हमें पराधीनता की बेड़ियों में जिस जाति ने जकड़ रखा है, उस पराधीनता को जिन लोगों ने केवल स्वार्थ के लिए, अपने राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक तमाशा बना रखा है, क्या उन लोगों के व्यवधान से तुम्हारी आँखें नहीं खुली हैं? इन्हीं पिछले एक-दो मास के भीतर हमारे ही बंगाल के प्रमुख नगर में जो रक्तपात हुआ है, जो लोगों ने रुधिर से आकण्ठ स्नान किया है, क्या वह हमारी अपनी भूल से उत्पन्न वर्ग की पशुता का तांडव नहीं था? दया विच्छेद की भावना हमारे ही उन पूर्वजों की सन्तान

के मस्तिष्क की उपज नहीं है, जिन्हें हमने इसी प्रकार भूल, भटक जाने पर एक दिन त्याग दिया था? यह कितना बड़ा पाप हमने किया था, उसी का फल गुण्डों के रूप में हमें मिल रहा है।

विश्वास—यदि अब भी वही पाप करते रहेंगे, तो वह दिन दूर नहीं है जब हिन्दू जाति भारत में पारसियों की तरह नगण्य, कल्पनातीत तथा संख्याहीन हो उठेगी। उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ रहेगा? धर्म की महत्ता मनुष्य से है। जब मनुष्य ही न होगा, तब उस धर्म का आदर-सम्मान कौन करेगा, रवि दादा?

चन्द्रिका—तुम ठीक कहते हो, विश्वास, मैं सुषमा को रखूँगा। वह निरपराध है। माणिक्य, क्या कहते हो?

माणिक्य—यह भी कोई पूछने की बात है, भैया? वे हमारी हैं—हमारे ही पास रहेंगी। मैं समाज की परवाह नहीं करता।

रवि—समाज की परवाह नहीं करते? जानते हो गोपा का विवाह क्या घर में ही करोगे? और सन्तानें क्या घर में ही बिठा रखोगे? कौन करेगा उनके साथ विवाह, यह भी सोचा है कभी।

चन्द्रिका—पर यह तो बड़ा ही अनर्थ है। क्या हिन्दू धर्म में ऐसी कोई आज्ञा नहीं है कि इसका प्रायश्चित्त हो सके?

रवि—क्या मुझे अपने घर के लोग प्यारे नहीं हैं? क्या मेरे यहाँ उनके भोजन का अभाव है? फिर क्यों मैं उन्हें छोड़ रहा हूँ, यह भी तो सोचो?

विश्वास—तुम तो कहते थे कि उनमें से कोई बचा ही नहीं है?

रवि—वह तो निषिद्ध हो जाने के कारण यह कह रहा हूँ कि नहीं बचा है। नहीं तो क्या उनमें से, जिन्हें भगाकर वे दुष्ट ले गए हैं, कोई न बचा होगा? अब इस शरीर में शक्ति नहीं है, नहीं तो लड़कर उनकी रक्षा करता।

अनिल—हमारे काम में आपने विघ्न डाल दिया है। हमने निश्चय किया था कि दुष्टों के चंगुल से उनका उद्धार करें। हममें से प्रत्येक नवयुवक ने काली माँ की शपथ लेकर हिन्दुओं के उद्धार का बीड़ा उठाया है, किन्तु जब आप उन्हें ग्रहण ही न करेंगे, तब फिर उन्हें लाने का ही क्या अर्थ है? चलो विश्वास, यह जाति जीवित रहने के लिए नहीं बनी है।

सुषमा—तो क्या हमारे लिए इस घर में अब कोई स्थान नहीं? हमारा दोष ही क्या है? क्या हमने जान-बूझकर इस आपत्ति को पुकारा, क्या हम जान-बूझकर गुण्डों के हाथों में पड़ीं? क्या यह तुम्हारा और समाज का दोष नहीं है कि तुम और हिन्दू समाज के लोग गुण्डों से हमारी रक्षा नहीं कर सके? तुमने अपनी आंखों के सामने देखा कि वे हमारी आबरू उतार रहे हैं, हमारा सतीत्व ' क्या अब यह कोई कहने की बात है? यदि ऐसा ही था तो तुम हमें अपनी रक्षा करने का उपाय बताते, हममें से प्रत्येक को लड़ने की शिक्षा देते, और हँसते-हसते प्राण देने की भावना हममें उत्पन्न करते।

विश्वास—जिस तालाब का पानी घटता ही जाता है, बाहर से जिसमें पानी नहीं आ सकता, क्या वह तालाब बहुत दिनों तक पानी-वाला रह सकता है?

शुभदा—पाप इच्छा से होता है। अनजान में बालात्कार से किया या कराया गया पाप, पाप नहीं होता। हम निर्दोष हैं।

सुषमा—क्या अब हम फिर वहीं लौट जायं, उन्हीं के घरों में जा रहें जिन्होंने हमारे ऊपर अत्याचार किया है, हमारे बच्चों को हमारे सामने ही उछालकर मार डाला है? क्या हम उनके धर्म का पालन करें, जिसमें मनुष्य के प्रति, जो उस वर्ग से, उस धर्म से सम्बन्ध नहीं रखता, कोई सहानुभूति नहीं है? जो भैंसे या ऊँट की तरह क्रुद्ध होकर नर-संहार करते रहते हैं? क्या तुम हमें, अपनी

स्त्रियों को, अपनी लड़कियों को, अपने बालको को वैसा ही बनने को और आगे जाकर वैसे ही अपने ऊपर अत्याचार, बलात्कार करने को प्रेरित नहीं करते ? हम कहा जाय, क्या करें ?

रवि—तुम गले में फांसी लटकाकर मर सकती हो। तालाब में डूबकर प्राण दे सकती हो। यदि एक स्त्री बचपन में विधवा होकर आजन्म पवित्र रह सकती है, तो तुम क्यों नही रह सकतीं ? तुम्हारे लिए हमारे यहा कोई स्थान नहीं है।

विश्वास—जानते हो इसका क्या परिणाम होगा ?

वीरू—क्या ?

विश्वास—सम्भव है सुषमा और शुभद्रा गुण्डों के चंगुल से छुट जाने के कारण ग्लानि, क्लेश से फांसी लगाकर मर जाय, पर जिन्हें वे पकड़कर ले गये हैं वे मरेंगी नहीं, जियेंगी और हमारे फिर स्वीकार न करने पर हमारी ही शत्रु बन जायंगी और अपनी भावी सन्तान को ऐसी शिक्षा देंगी कि वे हर तरह से हमारी इस कमज़ोर जाति का नाश कर दें !

[वातावरण बहुत उत्तेजित हो उठता है। लोग सोचने को बाध्य हो जाते हैं। गोपा मा के पास से हटकर, आंखें फाड़-फाड़कर कभी पिता को, कभी मा को देखती है। चन्द्रिकानाथ देखता है, जैसे सुषमा की सन्तान ही गुण्डों के रूप में उनके घर में आग लगाने दौड़ पड़ी है। वह चिल्ला उठता है]

चन्द्रिका—हमारे धर्म को इतना निर्बल न बनाओ, रवि दादा ! हमको इतना कमज़ोर मत कर दो। हमने बहुत भूलें की हैं। अब वैसी भूल मत करो। हमको जीने दो, भाई ! मैं इनको लौटकर नहीं जाने दूँगा। मैं इनका पालन करूँगा। मैं काशी के पंडितों से पूछकर इनका प्रायश्चित्त कराऊंगा। यह मेरा ही पाप है—मेरे समाज का पाप है।

रवि—यदि तुममें इतना सामर्थ्य हो, तो क्यों। काशी के पंडित क्या व्यवस्था देंगे, यह मैं जानता हूँ।

अनिल—ये स्त्रियाँ तुम्हारे घरों में पत्नी, माँ बनकर नहीं रह सकतीं, न रहें। स्त्री बनकर तो रह सकती हैं, उसी अवस्था में इनको रहने दो।

विश्वास—मैंने निश्चय किया है कि मैं ऐसी ही पतित कन्या से विवाह करके उसका उद्धार करूँगा।

अनिल—मैं भी।

(दो तीन नवयुवकों का कुछ स्त्रियों के साथ प्रवेश)

रवि—अरे, मृणालिनी! तू आगई, बेटी! (स्नेहातिरेक से उसे उठाता है)

तीनों युवक—एक घंटे तक घमासान युद्ध के बाद हम इनका उद्धार कर सके हैं। कुछ और स्त्रियाँ तथा बच्चे हैं, जिन्हें हमारे दल ने उनके घर पहुँचा दिया है।

माणिक्य—क्या कहते हो, रवि दादा? क्या मृणालिनी फिर यवनों के घर वापस जा रही है? (रवि चुप रहता है) अब आवश्यकता है कि हमारे नवयुवक अपने पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप इन कन्याओं से विवाह करके इनका उद्धार करें।

सब नवयुवक—हम तैयार हैं।

चंद्रिका—(उठकर) सुषमा, मैं आज अपनी भूल के पश्चात्ताप स्वरूप फिर तुमको स्वीकार करता हूँ। उठो, यह तुम्हारा घर है।

[दिखते हैं प्रमिल में कुछ कंपन हो रहा है। सब उठकर उसके पास जाते हैं। अनिल उसकी नाक बंद करता है तथा और उपचार करता है, पानी के छींटे डालता है। उसे धीरे-धीरे संज्ञा प्राप्त होती है]

अनिल—चोट के कारण बेहोशी थी, बच गया।

चंद्रिका—हे ईश्वर, तुम सबसे महान् हो।

रवि—(प्रभावित-सा होकर) यदि आप लोग ऐसी कन्याओं का उद्धार करने के लिए तैयार हैं, तो मैं मृणालिनी को पुनः स्वीकार करता हूँ।

माणिक्य—मै शुभदा को फिर स्वीकार करता हूँ। वह मेरी है, मेरी ही रहेगी।

अनिल—ज़मीन के अनुसार घर बनते है, पानी बर्तन के अनुसार अपनी आकृति बनाता है। हिंदू धर्म मे भी समय के अनुसार परिवर्तन होना चाहिए। समय के अनुसार समाज का निर्माण व उसमें परिवर्तन ही जीवन है। हम लोग जीने के लिए पैदा हुए हैं, मरने के लिए नहीं। हिंदू जाति महान् है। अठारह स्मृतियों के नियम, कानून, अठारह विभिन्न समयो मे बनाये गए हैं। उनमें परिवर्तन हुए हैं। फिर क्या कारण है कि इस परिस्थिति का मुक़ाबला करने के लिए हिंदू समाज मे कोई परिवर्तन न हो?

तीनो युवक—आओ, हम मिलकर औरों का उद्धार करें। गुण्डों के हाथों से उनकी रक्षा करें। किसी समय सिखो ने अपने हाथ के कड़े को पवित्र मानकर शत्रुओ के आक्रमण से अशुद्ध भोजन को भी शुद्ध माना था, इसी तरह हम भी माँ काली के चरणो मे बैठकर अपनी इस भूल के पश्चात्ताप स्वरूप इन अष्टों, पतितों को शुद्ध माने। इनके साथ पहले जैसा व्यवहार करे।

अनिल—विचार ही मनुष्य है, विचार ही समाज। विचारों मे परिवर्तन करो, समाज मे परिवर्तन होगा। जीवन ही धर्म है। वास्तविक धर्म का आदर करना सीखो।

सब—चलो, शत्रुओ से अपनो की रक्षा करें। (चले जाते हैं)

[प्रमिल आंखे खोल देता है, सुषमा उठकर उसे गोद में ले लेती है। चंद्रिका सुषमा का, माणिक्य शुभदा का, रवि मृणालिनी का और वीरू कुंज का हाथ पकड़कर जाते है]



बीमार का इलाज

पात्र

चन्द्रकात ..	आगरे का एक रईस, जो अंग्रेजी सभ्यता व रहन-सहन का प्रेमी है। एकदम भारी भरकम, उम्र ४५ वर्ष।
कांति	चन्द्रकात का बड़ा पुत्र। उम्र लगभग २१-२२ वर्ष।
विनोद	काति का समवयस्क मित्र।
शाति .	काति का छोटा भाई।
सरस्वती ..	काति की माँ, अपने पति से सर्वथा भिन्न—दुबली-पतली, पुराने विचारों की।
प्रतिमा ..	कांति की बहन—एकदम मोटी, उम्र २४ वर्ष।

डॉ० गुप्ता, डॉ० नानकचन्द, वैद्य हरिचंद, बूढ़ा नौकर सुखिया, पण्डित, पुजारी इत्यादि।

बीमार का इलाज

(आगरे में कांति के पिता मि० चंद्रकांत की कोठी का एक कमरा। कमरे की सजावट एक सम्पन्न परिवार के अनुरूप—सोफा सेट, कुर्सियां, तिपाई इत्यादि सभी वस्तुएं मौजूद हैं—पर नौकर पर निर्भर रहने तथा रूढ़िवादी गृह-स्वामिनी के कारण स्वच्छता, सलीके का अभाव, दरी पर बिछी हुई चादर काफी मैली है। जिस समय का यह दृश्य दिखाया जा रहा है, उस समय सवेरे के आठ बजे हैं। कांति का मित्र विनोद बिस्तर पर लेटा है। उसे अचानक रात में ज्वर हो गया, लगभग १०४ डिग्री। कड़ी काठी होने के कारण वह लापरवाही से कभी उठकर बैठ जाता है और कभी उठकर टहलने लगता है। वह अपने भीतर से यह विचार निकाल देना चाहता है कि उसे ज्वर है। फिर भी ज्वर की तेजी उसे बेचैन कर देती है और वह लेट जाता है। कुछ देर बाद कांति 'नाइट ड्रेस' में कन्धे पर तौलिया डाले चपलियां फटफटाता, सीटी बजाता, बायें दरवाजे से कमरे में आता है)

कांति—हलो विनोद, अभी अभी तक चारपाई से चिपटे हो—आठ बज रहे हैं। क्या भूल गए, आज गाँव जाना है? मैं तो स्वयं देर से उठा, वरना मुझे अब तक तैयार हो जाना चाहिए था। लेकिन तुमने तो कुम्भकर्ण के चाचा को भी मात कर दिया, यार! (पास जाकर) क्या बात है? खैर तो है?

विनोद—रात न जाने क्यों बुखार हो गया (हाथ फैलाकर) देखो!

कांति—(देह छूकर) ओह, सारी देह अंगारे की तरह दहक रही है।

विनोद—कम्बख्त बुखार कैसे बेमौके आ धमका!

कांति—यार, इस बुखार ने तो सारा मजा किरकिरा कर दिया। इलाहाबाद से मैं तुम्हें कितने आग्रह से छुट्टियाँ बिताने के लिए यहाँ आगरे लाया था—सोचा था, कुछ दिन यहाँ घर मे आनन्द-मौज करेंगे और फिर खूब गाँव की सैर करेंगे।

विनोद—मालूम होता है, मेरे भाग्य मे गाँव की सैर नहीं लिखी है। ये छुट्टियाँ बेकार ही गईं।

कांति—गाँव का रास्ता बड़ा ऊबड़-खाबड़ है। इस दशा में तुम्हारा गाँव जाना असम्भव है। सोचता हूँ, मैं भी न जाऊँ, पर जाये बिना काम भी तो नहीं चलेगा। कल चाचाजी शायद मुकदमे के लिए बाहर चले जायगे, न जाने कब तक लौटें! कहो तो मैं अकेला ही हो आऊँ—इफ यू डोण्ट माइण्ड!

विनोद—नहीं, नहीं, तुम हो आओ। उन्होंने आग्रह करके बुलाया है, हो आओ। मैं ठीक हो जाऊँगा। कोई बात नहीं।

कांति—तुम्हें कोई तकलीफ न होगी। डाक्टर आ जायगा। पिता-माता सभी तो है। मैं शाम को ही लौटने का यत्न करूँगा।

विनोद—नहीं, नहीं, मामूली बुखार है, ठीक हो जायगा। जाओ।

(कांति के पिता चन्द्रनाथ का प्रवेश)

चन्द्रनाथ—(दूर से) किसको बुखार है, बेटा कांति? अरे इतनी देर हो गई, तुम अभी तक गाँव नहीं गये। धूप हो जायगी। धूप, धूल और धुआँ इनमें तीन न सही, दो ही आदमी के प्राण निकालने को काफी हैं। उस पर घोड़े की सवारी—न कूदते बने, न सीधे बैठते। बुखार किसे हो गया बेटा?

कांति—बाबू जी, विनोद को रात बुखार हो गया। देह तवे की तरह गरम है। डॉक्टर को बुलाना है। ऐसे में इसका जाना

चन्द्रकांत—हैं है, विनोद कैसे जा सकता है! और फीवर, जंगल में आग की तरह उद्दण्ड! अभी डॉक्टर को बुलाकर दिखा देना होगा। मैंने निश्चय कर लिया है, डॉक्टर भटनागर अब इस घर में कदम नहीं रख सकता। उसने प्रतिमा का केस खराब कर दिया था। बुखार उससे उतरता ही न था। वह एकदम बकरे के थन की तरह निकम्मा सिद्ध हुआ। वैसे पूछो तो उस बिचारे का कसूर भी नहीं था, दवा तो उसने एक-से-एक बढ़िया दी, पर इससे क्या, बुखार तो नहीं उतरा। टाइफाइड को छोड़कर चाहे उसका बाप भी क्यों न हो, उसे कुछ-न-कुछ तो उतरना ही चाहिए। डॉक्टर गुप्ता ने आते ही उतार दिया। अब तो गुप्ता ही मेरा फैमिली डॉक्टर है। गुप्ता को बुलाओ। सुखिया, ओ सुखिया, जा जरा डॉक्टर गुप्ता को तो बुला ला। कहना—वह कांति के मित्र हैं न, जो प्रयाग से आये हैं, उन्हें बुखार हो गया है, ज़रा चलकर देख लीजिये। बाबूजी ने कहा है। बेटा, मान गया मैं तो'

कांति—डॉ० भटनागर में मेरा 'फेथ' कभी नहीं रहा बाबूजी, लेकिन डॉ० नानकचन्द भी कम नहीं है। विनोद को उसे दिखाना ही ठीक होगा। न जाने उसके हाथ में कैसा जादू है। मेरा तो दिन-पर-दिन 'होमियोपैथी' में विश्वास बढ़ता जा रहा है।

चन्द्रकांत—(कमरे मे टहलते हुए) मेरे बच्चे, तुम पढ़-लिखकर भी नासमझ ही रहे। बिना अनुभव के समझदार और बच्चे में अन्तर ही क्या है। अरे होमियोपैथी भी कोई इलाज है! चाकलेट या मीठी गोलियाँ न दीं, होमियोपैथिक दवा दे दी। याद रखो, बड़ों की बात गाँठ बाँध लो—जब इलाज करो, एलोपैथिक डॉक्टर का इलाज करो। 'कड़वी भेषज बिन पिये, मिटे न तन को ताप'। ये बाल धूप में सफेद नहीं हुए हैं। कहते क्यों नहीं विनोद बेटा?

कांति—(देह छूकर) ओह, सारी देह अंगारे की तरह दहक रही है।

विनोद—कम्बख्त बुखार कैसे बेमौके आ धमका!

कांति—यार, इस बुखार ने तो सारा मजा किरकिरा कर दिया। इलाहाबाद से मैं तुम्हें कितने आग्रह से छुट्टियाँ बिताने के लिए यहाँ आगरे लाया था—सोचा था, कुछ दिन यहाँ घर में आनन्द-मौज करेंगे और फिर खूब गाँव की सैर करेंगे।

विनोद—मालूम होता है, मेरे भाग्य में गाँव की सैर नहीं लिखी है। ये छुट्टियाँ बेकार ही गईं।

कांति—गाँव का रास्ता बड़ा ऊबड़-खाबड़ है। इस दशा में तुम्हारा गाँव जाना असम्भव है। सोचता हूँ, मैं भी न जाऊँ, पर जाये बिना काम भी तो नहीं चलेगा। कल चाचाजी शायद मुकदमे के लिए बाहर चले जायगे; न जाने कब तक लौटें। कहो तो मैं अकेला ही हो आऊँ—इफ यू डोण्ट माइण्ड।

विनोद—नहीं, नहीं, तुम हो आओ। उन्होंने आग्रह करके बुलाया है, हो आओ। मैं ठीक हो जाऊँगा। कोई बात नहीं।

कांति—तुम्हें कोई तकलीफ न होगी। डाक्टर आ जायगा। पिता-माता सभी तो हैं। मैं शाम को ही लौटने का यत्न करूँगा।

विनोद—नहीं, नहीं, मामूली बुखार है, ठीक हो जायगा। जाओ।

(कांति के पिता चन्द्रकांत का प्रवेश)

चन्द्रकांत—(दूर से) किसको बुखार है, बेटा कांति? अरे इतनी देर हो गई, तुम अभी तक गाँव नहीं गये। धूप हो जायगी। धूप, धूल और धुआँ इनमें तीन न सही, दो ही आदमी के प्राण निकालने को काफी हैं। उस पर घोड़े की सवारी—न कूदते बने, न सीधे बैठते। बुखार किसे हो गया बेटा?

कांति—बाबू जी, विनोद को रात बुखार हो गया। देह तवे की तरह गरम है। डॉक्टर को बुलाना है। ऐसे में इसका जाना ˙

चन्द्रकांत—हैं हैं, विनोद कैसे जा सकता है! और फीवर, जंगल में आग की तरह उद्दण्ड! अभी डॉक्टर को बुलाकर दिखा देना होगा। मैंने निश्चय कर लिया है, डॉक्टर भटनागर अब इस घर में कदम नहीं रख सकता। उसने प्रतिमा का केस खराब कर दिया था। बुखार उसमें उतरता ही न था। वह एकदम बकरे के थन की तरह निकम्मा सिद्ध हुआ। वैसे पूछो तो उस बिचारे का कसूर भी नहीं था, दवा तो उसने एक-से-एक बढ़िया दी, पर इससे क्या, बुखार तो नहीं उतरा। टाइफाइड को छोड़कर चाहे उसका बाप भी क्यों न हो, उसे कुछ-न-कुछ तो उतरना ही चाहिए। डॉक्टर गुप्ता ने आते ही उतार दिया। अब तो गुप्ता ही मेरा फैमिली डॉक्टर है। गुप्ता को बुलाओ। सुखिया, ओ सुखिया, जा जरा डॉक्टर गुप्ता को तो बुला ला। कहना—वह कांति के मित्र हैं न, जो प्रयाग से आये हैं, उन्हें बुखार हो गया है, ज़रा चलकर देख लीजिये। बाबूजी ने कहा है। बेटा, मान गया मैं तो˙˙ ˙

कांति—डॉ० भटनागर में मेरा 'फेथ' कभी नहीं रहा बाबूजी, लेकिन डॉ० नानकचन्द भी कम नहीं है। विनोद को उसे दिखाना ही ठीक होगा। न जाने उसके हाथ में कैसा जादू है। मेरा तो दिन-पर-दिन 'होमियोपैथी' में विश्वास बढ़ता जा रहा है।

चन्द्रकांत—(कमरे में टहलते हुए) मेरे बच्चे, तुम पढ़-लिखकर भी नासमझ ही रहे। बिना अनुभव के समझदार और बच्चे में अन्तर ही क्या है। अरे होमियोपैथी भी कोई इलाज है! चाकलेट या मीठी गोलियाँ न दीं; होमियोपैथिक दवा दे दी! याद रखो, बड़ों की बात गाँठ बाँध लो—जब इलाज करो, एलोपैथिक डॉक्टर का इलाज करो। 'कड़वी भेषज बिन पिये, मिटे न तन को ताप'। ये बाल धूप में सफेद नहीं हुए हैं। कहते क्यों नहीं विनोद बेटा?

विनोद—जी ! (करवट बदल लेता है)

चन्द्रकांत—ये वैद्य-हकीम क्या जाने, हरड़-बहेड़ा और शरबत-शोरबे के पण्डित !

कांति—मैं चाहता हूँ आप इस मामले मे

चन्द्रकांत—नहीं, यह नहीं हो सकेगा। मैं जानता हूँ विनोद का भला इसी मे है।

(सुखिया का प्रवेश)

सुखिया—सरकार वो बाबू आये हैं।

चन्द्रकांत—अबे कौन बाबू, नाम भी बतायगा या यों ही

सुखिया—वही जो उस दिन रात को आये थे।

चन्द्रकांत—लो और सुनो, गधो से पाला पड़ा है।

सुखिया—वह बाबू सरकार"

चन्द्रकांत—कह दे, आता हूँ। और मैंने तुझे डॉक्टर के पास भेजा था। जल्दी जा (स्वय भी चला जाता है)

कांति—तुम घबराना मत। मै डॉक्टर नानकचन्द को बुलाकर लाऊँगा। अव्वल तो मेरा ख्याल है, शाम तक बुखार उतर जायगा। अच्छा विनोद, देर हो रही है चलूँ। अभी मुझे बाथ-रूम भी जाना है।

विनोद—हाँ, हाँ, तुम जाओ। मैंने बुखार की कभी परवाह नहीं की है, कांति। उतर जायगा अपने-आप। शाम तक लौटने की कोशिश करना।

कांति—अवश्य, अवश्य, तुम्हारे बिना मेरा मन भी क्या लगेगा। लेकिन जाना जरूरी है। अच्छा, विश यू आल राइट।

(सीटी बजाता चला जाता है)

विनोद—नमस्कार। (करवट बदल कर लेट जाता है)

(काति की मा सरस्वती का प्रवेश)

सरस्वती—(कमरे मे घुसते ही) विनोद, क्या बात है? उठो चाय-वाय तैयार है। कुछ खाओ पियो। (पास जाकर) क्या बात है, ख़ैर तो है? कुछ तबियत खराब है क्या? (पलग के पास जाकर विनोद को छूकर) आय-हाय देखो तो कितना बुखार है। मुँह ईंगुर-सा लाल हो गिया है बिचारे का—घबराओ मत बेटा, मैं अभी वैद हरिचन्द को बुलाती हूँ। देखकर दवा दे जायंगे। बडे काबिल वैद हैं, विनोद। जरा कपडा ओढ़ लो न। (उढाती है) जैसा कांति वैसा ही तू। मेरे लेखे तो दोनो एक हो। क्या सिर मे कुछ दर्द है? (हाथ फेरकर) कब्जी होगी। अभी ठीक हो जायगी। सुखिया, ओ सुखिया। न जाने कहाँ मर गया। इन नौकरो के मारे तो नाक में दम हो गिया है। अरे शांति, ओ शांति। (शाति आता है) देख तो बेटा, जा हरिचन्द वैद जी को बुला ला। देखकर दवा दे जायगे। भैया वैद हो तो ऐसा हो

विनोद—माता जी, बाबू जी ने डॉक्टर गुप्ता को बुलाया है। शायद काति ने डॉक्टर नानकचन्द के लिए कहा है।

सरस्वती—लो और सुनो, इनके मारे भी मेरा नाक में दम है। उस मरे डॉक्टर को न कुछ आवे है, न जावे है। न जाने क्यो डॉक्टर गुप्ता के पीछे पडे रहे हैगे। क्या नाम है उस मरे भटनागर का? इन दोनो ने तो छोरी को मार ही डाला था। वह तो कहो, भला हो इन वैद जी का, बचा लिया। जा बेटा शांति, जा तो सही जल्दी।

शांति—जाऊँ हूँ मां। (चला जाता है)

सरस्वती—अरी प्रतिमा, ओ प्रतिमा, (दूर से ही आवाज आती है—'हां मा, क्या है?') देख ज़रा मन्दिर में पण्डित जी पूजा कर रहे हैं। उनसे कहियो, जरा इधर होते जाय। और देख, उनसे कहियो,

मार्जन का जल लेते आवें, विनोद भैया बीमार हैं। मैंने घर में ही मन्दिर बनवाया है बेटा !

विनोद—(उत्सुकता से करवट बदल कर) पण्डितजी का क्या होगा यहाँ माँ ?

सरस्वती—बेटा, जरा मार्जन कर देंगे। अपने वो पण्डित जी रोज पूजा करने आवें हैं। मार्जन कर देंगे। सारी बला-बला दूर हो जायगी। तुम पढ़े-लिखे लोग मानो या न मानो, पर मैं तो मानूँ हूँगी भैया ! पिछले दिनों प्रतिमा बीमार थी। समझ लो पण्डितजी के मार्जन से ही अच्छी हुई। मैंने कथा में एक बार सुना था—बुखार-उखार तो नाम के हैं, असली तो ये ग्रह, भूत ही हैं जो बुखार बनकर आजायं हैंगे। सिर दबा दूँ क्या बेटा ? जैसे कांति वैसे तुम। तब तक न हो थोड़ा-सा दूध पी लो। अरी मिसरानी, ओ मिसरानी ! (दूर से आवाज—'आई बहू जी')अरी देख, थोड़ा दूध तो गरम कर लाइयो।

विनोद—दूध तो मैं नही पीऊँगा माताजी।

सरस्वती—(चिल्लाकर) अच्छा रहने दे।(विनोद से) क्या हर्ज है, थोडी देर बाद सही। जरा ओढ़ लो, मैं अभी आई। (जैसे ही जाने लगती है वैसे ही मार्जन का जल, दूर्वा लेकर पण्डितजी कमरे में आते है। सरस्वती पण्डितजी से) देखो पण्डितजी, तुम्हारी पूजा से प्रतिमा जी उठी थी। याद है न ? ये मेरे कान्ति का मित्र है। देखो एक साथ पढ़े हैं। तुम्हें नहीं मालूम आजकल वो आया है न ! चाचा ने बुलाया है, आज गांव जा रिया है। विनोद भी जा रिया था, पर इस बिचारे को बुखार हो गिया। जरा मन्त्र पढ़कर मार्जन तो कर दो।

पण्डितजी—क्यों नहीं, बहू जी, मन्त्र का बड़ा प्रभाव है। पुराने समयों में दवा-दारू कौन करे था। बस, मन्त्राभिसिक्त जल से मार्जन करा के बीमारी गई। तुम तो बीमारी की कहो हो, यहाँ तो मरे जी

उठे थे मरे, जिनके जीने का कोई सवाल ही नहीं उठे था। (आंखे मटका कर) हाँ, ऐसा था मन्त्र का प्रभाव।

सरस्वती—सच कहो हो पण्डितजी, जरा कर तो दो मार्जन। वैसे मैंने अपने उन वैदजी को भी बुलाया है। शान्ति गया है बुलाने।

पण्डितजी—तभी, तभी, मैं भी कहूँ आज शान्ति बाबू नहीं दिखाई दिये। ठीक है, एक शत्रु पर जब दो पिल पड़ें तो वह कैसे बचकर जायगा। अच्छा, ये कान्ति बाबू के दोस्त हैं! अच्छा है भैया, खुश रहो, खूब पढ़ो-लिखो, धर्म में श्रद्धा रखो—हम तो ये कहे हैं। क्यों बहू जी?

सरस्वती—हाँ और क्या, पर आजकल के ये पढ़े-लिखे कुछ मानें तब न? तुम्हारे इन्हीं को देख लो, कुछ दिनों से डॉक्टरों के चक्कर में पड़े हैं। मैं कहूँ हूँ, अपने बुजुर्गों की दवाइयाँ क्यों छोड़ी जायं? जब ये डाक्टर नहीं थे तब क्या कोई अच्छा नहीं होवे था? सभी ठीक होयं थे। अब न जाने कैसा जमाना आ रिया है।

पण्डितजी—जमाना बड़ा खराब है, बहू जी! देवता, ब्राह्मण और गौ पर तो जैसे श्रद्धा ही न रही।

सरस्वती—अच्छा पण्डितजी, मार्जन कर दो, मैं अभी आई। (चली जाती है। पण्डित मत्र पढकर विनोद के ऊपर बार-बार जल छिड़कता है। इसी समय डॉक्टर को लेकर चन्द्रकान्त प्रवेश करता है)

चन्द्रकान्त—हैं हैं, अरे क्या हो रहा है? (पास जाकर) बस करो, ब्राह्मण देवता, बस करो, (जोर से) अरे, तुम क्या समझते हो इसे भूत है? रहने दो। न जाने इन औरतों को कब बुद्धि आयेगी। अरे डॉक्टर गुप्ता, आप इधर बैठिये न।

पण्डितजी—बस, थोड़ा ही मार्जन रह गया है, बाबू जी। (मार्जन करता है)

डॉक्टर गुप्ता—महाराज, क्यों मारना चाहते हो बीमार को।

निमोनिया हो जायगा, निमोनिया। (पण्डित डॉक्टर के कहने पर भी मार्जन किये ही जाता है) अटर न्यूसेन्स, मिस्टर चन्द्रकान्त!

चन्द्रकान्त—(कड़क कर) बस रहने दो। सुनते नहीं डॉक्टर गुप्ता क्या कह रहे हैं? निमोनिया हो जायगा।

पण्डितजी–जैसी आपकी इच्छा। मेरा तो विचार है, विनोद बाबू का इतने से ही बुखार उतर गया होगा। (चला जाता है)

डॉक्टर गुप्ता—मन्त्रों से बीमारी अच्छी हो जाती तो हम क्या भाड़ झोंकने को इतना पढ़ते! न जाने देश का यह अज्ञान कब दूर होगा! (डॉक्टर खाट के पास खड़ा होकर विनोद को देखता है।) बुखार तेज है। जीभ दिखाइये। पेट दिखाइये। (थर्मामीटर लगा कर नाड़ी की गति गिनता है, फिर थर्मामीटर देखकर) १०४ डिगरी। कोई बात नहीं, ठीक हो जायगा। दवा लिखे देता हूँ, डिस्पेन्सरी से मंगा लीजियेगा। दो-दो घण्टे बाद। पीने को केवल दूध। यू विल बी आल राइट विथ इन टू आर थ्री डेज।

चन्द्रकान्त—डॉक्टर गुप्ता, ये कान्ति के दोस्त हैं। बिचारे उसके साथ सैर को आये थे।

डॉक्टर गुप्ता—ठीक हो जायगे। बेचैनी मालूम हो, बुखार न उतरे तो बरफ रखियेगा सिर पर।

चन्द्रकान्त—ठीक है। (विनोद से) घबराने की कोई बात नहीं। ठीक हो जाओगे, मामूली बुखार है। मैं अभी दवा लाता हूँ।

डॉक्टर गुप्ता—मैं शाम को भी आकर देख लूंगा। अच्छा मिस्टर चन्द्रकान्त! (एक तरफ से दोनों चले जाते हैं। दूसरी तरफ से सरस्वती आती है)

सरस्वती—क्या हुआ, पण्डित जी चले गये? मार्जन कर गये?

विनोद—(चुपचाप पड़ा रहता है)

सरस्वती—(देह छूकर) अब तो बुखार कम है। देखा मंत्र का प्रभाव, मार्जन करते ही फरक पड़ गया। (वहीं से चिल्लाकर) प्रतिमा, ओ प्रतिमा, सुनियो री जरा।

प्रतिमा—(वहीं से चिल्लाती हुई) क्या है ?

सरस्वती—देख तो पण्डित जी गये क्या। बुखार तो कुछ उतरा दिखाई दे है। उनसे कह जरा और थोड़ी देर मार्जन कर दें। (प्रतिमा जाती है)

विनोद—नहीं रहने दीजिये। वे मार्जन कर गये हैं।

सरस्वती—क्या हर्ज है, अपने घर के ही पण्डित तो हैं। आधी रात को बुलाओ तो आधी रात को आवें। मखौल है क्या, बीस रुपये महीना, तीज-त्यौहार पर आटा-सीधा अलग। तीस तो पड़ी जाये हैंगे। ऊपर से भी आमदनी हो जाय हैगी।

(प्रतिमा आकर)

प्रतिमा—पण्डितजी तो गये, अम्मा।

विनोद—माताजी, मार्जन रहने दीजिये। काफी हो गया। (चुप हो जाता है। वैद हरिचन्द शान्ति के साथ आते हैं)

सरस्वती—लो, वैद जी आ गये। आओ वैद जी।

हरिचन्द—क्या बात है बहू जी ? सवेरे-ही-सवेरे शान्ति जो पहुँचा तो मैं डर गया। कायदे से किसी आदमी को देखकर वैद्य को खुश होना चाहिए, परन्तु मेरी आदत तो और ही है, मैं तो चाहता हूँ अपनी जान-पहचान के लोग सदा प्रसन्न रहें। हाँ, क्या बात है ? (सकेत से पूछता है)

सरस्वती—ये कान्ति के साथ पढ़े है वैद जी। छुट्टियों मे उसी के सग सैर को आया, सो बिचारा बीमार पड़ गया ! जरा देखो तो—

(जैसे ही वैद्य नाड़ी देखने को बढ़ता है वैसे ही विनोद बोल उठता है।)

विनोद—डॉक्टर गुप्ता भी देख गये हैं, माता जी।

हरिचन्द—फिर मेरी क्या आवश्यकता है, मेरा काम ही क्या है (एकदम दूर जा खड़ा होता है) मैं ऐसे रोगियों का इलाज नहीं करता। उसी डॉक्टर का इलाज करो। और मैं तो राजा भूपेन्द्रसिंह के यहाँ जा रहा था। सोचा, बाबू जी ने बुलाया है तो जाना ही चाहिए।

(लौटने लगता है)

सरस्वती—वैद जी, उनकी भली चलाई। आने दो डॉक्टर गुप्ता को। इलाज तो तुम जानो, तुम्हारा ही होगा। मैं क्या कान्ति के मित्र को और बीमार होने दूँगी? नही, तुम्हे ही इलाज करना होगा। तुम्हारी ही दवा दी जायगी। चलो देखो। उन मरों ने प्रतिभा को तो मार ही दिया था। तुम्हीं ने तो बचाया। वाह, यह कैसे हो सके हैगा? इस घर में डॉक्टरी नहीं चलेगी।

हरिचन्द—(पास जाकर विनोद को देखते हुए) हाँ, सोच लो। मैं उन लोगों में से नहीं हू जो दवा देने के लिए भागते फिरें। मै अच्छी तरह जानता हूँ, बाबू चन्द्रकान्त डॉक्टरों के चक्कर मे पड गए है, जो अंग्रेजी दवाइयाँ देकर लोगों को मार देते हैं। (व्यग्य से हस-कर) ये डाक्टर भी अजीब हैं। देशी बीमारी और अंग्रेजी दवाई! न देश, न काल! (विनोद को देखकर) पेट खराब है। काढ़ा देना होगा। एक गोली दूँगा, काढ़े के साथ दे देना। बुखार पचेगा और ठीक हो जायगा।

सरस्वती—(उछल कर) मै कह नहीं रही थी कब्जी से बुखार है। कहो विनोद, क्या कहा था? घोडी नहीं चढ़े तो क्या बरात भी नहीं देखी! बहुत-सी बीमारी का इलाज तो मै खुद ही कर लूँ हूँगी।

हरिचन्द—बीमारी पहचानने में कर तो ले कोई मेरा मुकाबला। बड़े-बड़े सिविल सर्जन मुझे बुलाते है। अभी उस दिन राजा साहब के यहाँ सारे शहर के डॉक्टर इकट्ठे हुए, किसी की समझ मे नहीं आ

रहा था क्या बीमारी है। मुझे बुलाया गया, देखते ही मैंने झट से कह दिया यह बीमारी है।

सरस्वती—(वैद्य की तरफ विश्वास से देखकर) फिर मान गए।

हरिचन्द—मानते न तो क्या करते! वह सिक्का बैठा कि शहर भर में धूम मच गई। अब रोज़ जाता हूँ।

सरस्वती—आराम आ गया फिर? भला क्यों न आराम आता। हमारे वैद जी क्या कोई कम हैं।

हरिचन्द—अभी देर लगेगी। पुराना रोग है। ठीक हो जायगा।

सरस्वती—अरे, तो आराम नहीं आया? भला कौन बीमार है?

हरिचन्द—उनकी बड़ी लड़की।

सरस्वती—(साश्चर्य) वह गप्पो, क्या वैद जी? बड़ी अच्छी लड़की है बिचारी। राम करे अच्छी हो जाय!

हरिचन्द—हां। अच्छा, चला। काढ़ा और गोली भेज दूंगा। पहले बुखार पचेगा, फिर उतरेगा। उस दिन राजा साहब बोले—वैद्य जी, हमने आपको अपने परिवार का चिकित्सक बना लिया है।

सरस्वती—सो तो है ही। तुम्हें क्या कमी है! मैं उनसे यही तो कहूँ हूँ कि हमें तो वैद जी की दवा लगे है। पर न जाने...

हरिचन्द—सस्ती दवा, थोड़ी फीस, देशकाल के अनुसार। और मैं क्या डॉक्टरी नहीं जानता? मैंने भी तो मेटीरिया मेडिका, सर्जरी पढ़ी है।

सरस्वती—सो तो है ही वैद जी। (सरस्वती वैद्य के साथ एक द्वार से निकल जाती है। दूसरे से चन्द्रकान्त सुखिया के साथ दवा लेकर आते हैं।)

चन्द्रकान्त—लो बेटा विनोद, एक खुराक पी लो। अभी ठीक हो जाओगे। (विनोद को उठाकर दवा पिलाता है)

विनोद—अभी वैद्य हरिचन्द भी देखने आये थे।

चन्द्रकान्त—(चौंककर) आये थे ? वह मूर्ख वैद्य ! वह क्या जाने इलाज करना। इन औरतों के मारे नाक में दम है साहब। दवा तो नहीं पी न ? अच्छा दो-दो घण्टे बाद दवा लेते रहना। पीने को दूध, बस और कुछ नहीं। मैं काम से जा रहा हूँ। (जाते-जाते सुखिया से) देख, तू यहाँ बैठ। बाबू की देख-भाल करना, भला।

सुखिया—जी सरकार।

(चन्द्रकान्त चला जाता है)

बाबू, मैं तो झाड-फूंक मे विश्वास करता हूँ। हाथ फेरते ही बुखार उतर जायगा। यह ओझा से पानी लाया हूँ। दो घण्टे में बुखार क्या उसका नाम भी न रहेगा। मैंने तो छोटे बाबू से सवेरे ही कहा था—कहो तो ओझा को बुलाऊँ पर वे न माने। कहा, तू पागल है सुखिया। मैं चुप हो रहा। क्या करता, गरीब आदमी ठहरा। अभी दो घण्टे में बुखार का नाम भी न रहेगा बाबू !

विनोद—अरे कहीं बुखार भी झाड-फूँक से गया है सुखिया ! मैं तो गाँव का रहने वाला हूँ। मैंने तो कहीं नहीं देखा कि बुखार झाड-फूँक से उतरता है। जरा पानी तो दो।

सुखिया—(दरी पर बैठकर तमाखू खाता हुआ) शर्त बद लो शर्त। और वह ओझा तो वैदगी भी जाने है। हमारे यहाँ तो कोई भी और कहीं नहीं जाय हैगा। वैसे तुम्हारी मर्जी। पानी पियोगे ? देता हूँ। यही पानी पी लो न। किसी को मालूम भी न होगा। न दवा, न दारू। (पानी देता है)

विनोद—(पानी पीकर) नहीं सुखिया, ओझा की कोई आवश्यकता नहीं है। कान्ति गया क्या ?

सुखिया—गये होंगे। घोडी तो दो दिन से खड़ी थी। अब तो पहुँचने वाले होंगे।

(इसी समय सरस्वती कटोरे में काढ़ा और दूसरे हाथ में दवा की गोली लेकर आती है।)

सरस्वती—लो बेटा विनोद, ज़रा जी कड़ा करके पी तो लो। ऊपर से ये गोली खा लो। नहीं नहीं, पहले गोली फिर काढ़ा। मैं भी कितनी भुलक्कड़ हूँ।

विनोद—दवा तो अभी मैं पी चुका हूँ, माताजी। बाबूजी पिला गये हैं।

सरस्वती—क्या कहा, दवा दे गये हैं? कोई हर्ज नहीं, फ़ायदा तुम्हें इसी दवा से होगा। यह काढ़ा ऐसा-वैसा नहीं है। एकदम लाभ होगा और मेरा तो तजुर्बा है। प्रतिमा मर रही थी, इन्हीं वैदजी ने उसे जिलाया। लो पी तो लो। (कटोरा देती है। विनोद चुपचाप काढ़ा पीने लगता है, उसी समय चन्द्रकान्त लौट आते हैं। विनोद को दवा पीते देखकर)

चन्द्रकान्त—यह क्या हो रहा है विनोद?

सरस्वती—दवा दे रही हूँ और क्या?

चन्द्रकान्त—तुम पागल हो गई हो। विनोद डॉक्टर गुप्ता की दवा पी चुका है। और उसे और दवा देना!

सरस्वती—सुनो मैं यह नहीं मानती। मैं डॉक्टर की दवा और डॉक्टर दोनों को व्यर्थ समझती हूँ। मालूम नहीं है, प्रतिमा को इस डॉक्टर ने मार ही डाला था, वह तो कहो वैद हरिश्चन्द ने बचा लिया।

चन्द्रकान्त—तुम मूर्ख हो। कहीं डॉक्टर मूर्ख होता है? मूर्ख हैं ये वैद्य जो कुछ नहीं जानते। प्रतिमा को तो डॉक्टर गुप्ता से लाभ हुआ था।

सरस्वती—बिलकुल गलत। दवा तो मैं देती थी। मुझे मालूम है, किससे लाभ हुआ उसे।

चन्द्रकान्त—विनोद, दवा मत पियो, हर्गिज़ न पियो। वैद्यों की दवा पीना मृत्यु को बुलाना है।

सरस्वती—बेटा, यह काढ़ा पीना बहुत आवश्यक है। इसे बिना पिये तुम्हें लाभ ही न होगा। इन्हें कहने दो। ये ऐसे ही कहते रहे हैं। यदि इन वैदजी की दवा न होती तो प्रतिमा कभी की मर गई होती।

चन्द्रकान्त—(कटोरा विनोद के हाथ मे लेकर) इसे रहने दो। न जाने ससार से मूर्खता कब जायगी! लो इसे पियो।

सरस्वती—नहीं, यह नहीं हो सके हैगा। तुम्हें मालूम है वैद हरिचन्द की दवा से प्रतिमा मरते-मरते बची है। पराया लडका है बिचारा, कान्ति के साथ सैर को आया है। डॉक्टरों के चक्कर में पडा और बस। मैं हा हा खाती हू, इसे डॉक्टर की दवा मत दो। रहने दो विनोद, क्या मै इस घर की कोई भी नहीं हूँ।

चन्द्रकान्त—क्या तुम यह नहीं मानतीं कि औरतों में बुद्धि थोडी होती है। मेरा कहा मानो और विनोद को डॉक्टर की दवा पीने दो। अच्छा हो जायगा—जल्दी अच्छा हो जायगा, सरस्वती!

सरस्वती—देखो जी, तुम क्या नाम है मुझे ही सदा दबाते रहते हो। इस घर में कोई भी मेरी नही सुने हैगा। (एक दम रोकर) दो और गाली दो, मार लो। (काढा गोली ज़मीन पर रखकर रोने लगती है। आंचल से आसू पोछती हुई) जैसे मैं इस घर की कोई भी नहीं हूँगी। ईं ईं ईं ईं न अच्छी बात सुने हैंगे न समझ की बात ईं ईं ईं ईं (रोती है)

चन्द्रकान्त—(हैरान रहकर) अरे तो भागवान्, मैंने तुझे गाली कब दी। मैंने तो यही कहा है कि डॉक्टर की दवा से विनोद अच्छा हो जायगा।

सरस्वती—(रोते हुए) ईं ईं ईं ईं और गाली किसे कहे हैंगे। मुझ मरी को मौत भी तो नही आवे है। एक दफे मर जाऊँ तो रोज़-रोज़ का झंझट तो जाय। (रोकर) वैद हरिचन्द ने जहर तो नहीं

दिया है, काढ़ा और गोली ही तो दी है। फिर न जाने इतनी जिद क्यों है। मैं क्या कोई इसकी दुश्मन हूँ। (हिचकी भरकर) अच्छा करो तो बुरा होय है। (अकड़कर) मैं साफ कह दूँ हूँ, विनोद पियेगा तो काढा ही, डॉक्टर की दवा हरगिज हरगिज नहीं पियेगा।

चन्द्रकान्त—मैं कहता हूँ विनोद डॉक्टर की दवा पियेगा।

सरस्वती—मैं कहती हूँ विनोद वैद की दवा पियेगा।

चन्द्रकान्त—तुम मूर्ख हो, तुम्हें कोई कहाँ तक समझावे। मैंने दुनिया देखी है। मैं जानता हूँ आजकल किसकी दवा से फायदा होता है। देखो जिद न करो।

सरस्वती—(अड़ती हुई) देखो मेरी सुनो, घर के मामले में तुम्हें बोलने का कोई अधिकार नहीं है। विनोद अगर दवा पियेगा तो वैद की। वैदजी तभी तो कह गये हैं कि विनोद का बुखार ठीक हो जायगा। समझे कि नहीं।

चन्द्रकान्त—नहीं, नहीं, हरगिज़ नहीं। विनोद दवा पियेगा तो डॉक्टर की। नहीं तो कोई दवा न पियेगा।

विनोद—इससे तो अच्छा यह है कि मैं कोई दवा न पीऊँ।

सरस्वती—यह कैसे हो सके हैगा भैया, मैं मर जाऊँ। इससे तो अच्छा है भगवान् मुझे उठा लें। अब इस घर में मेरी कोई जरूरत नहीं है। हाय राम, दूसरों के सामने भी मेरा अपमान हो रिया है और तुम देख रहे होगे। (क्रोध में) मैं तो अपना सिर फोड़ लूँगी। इस घर में अब मेरी जरूरत ही क्या है। ले पी विनोद!

चन्द्रकान्त—(लाचारी से) अच्छा भाई, काढ़ा पी लो, मुझे क्या। अजब परेशानी में जान है इन औरतों के मारे। तुम लोग कभी कोई नई बात नहीं सीखोगी। कभी दूसरे का कहना न मानोगी। कभी भला-बुरा न सोचोगी। (अकड़कर) डॉक्टर मेरा चाचा तो नहीं लगता

लेकिन याद रखो विनोद, जल्दी अच्छा होने के लिए यह आवश्यक है कि तुम डॉक्टर की दवा पियो। अच्छा चलो, विनोद के ऊपर ही फैसला रहा। क्यों विनोद ?

सरस्वती—देखा, लगे उसे बहकाने। वह क्या जाने बेचारा। मैं कहूँ हूँ एक दिन वैद की दवा देकर तो देखो। लो बेटा, पियो तो सही काढ़ा।

चन्द्रकान्त—और मै दुश्मन हूँ।

सरस्वती—तुम क्यों दुश्मन होते। राम करे इसके दुश्मन रहे ही न! पियो तो सही।

विनोद—(दोनो के हाथ जोडकर) यदि आप मुझे मेरे हाल पर छोड़ दें तो मैं शाम तक ठीक हो जाऊँगा।

दोनों—(चिल्लाकर) यह कैसे हो सकता है। दवा तो तुम जानो पीनी ही पडेगी।

विनोद—नहीं-नहीं, आप क्षमा करें बाबूजी, मैं अँग्रेजी दवा पीने का आदि नहीं हूँ।

सरस्वती—(चिल्लाकर) मैंने कहा था न कि विनोद को वैद जी की दवा से ही आराम होगा।

विनोद—नहीं, मै वैद्य की दवा भी न पीऊँगा। मै वैसे ही ठीक हो जाऊंगा, माता जी।

(उठकर चलने को तैयार होता है। इसी समय कान्ति डॉक्टर नानकचन्द के साथ प्रवेश करता है)

कान्ति—आइये डाक्टर साहब, मैंने कहा (पिता को देखकर) विनोद को जरा डॉक्टर साहब को भी दिखा दूँ। (विनोद की तरफ देखकर) अरे विनोद, तुम तो जा रहे हो। क्या बात है ? सुनो देखो डॉक्टर साहब आये हैं—होमियोपैथिक हैं। सुनो विनोद !

विनोद—मेरा बुखार घूमने से उतरता है कान्ति। मैं घूमने जा रहा हूँ। (जाता है)

डॉक्टर—ही इज सफरिंग परहेप्स फ्राम किंग्स डिसीज़। इनको नींद में घूमने की बीमारी मालूम होती है।

कान्ति—(चिल्लाकर) बिचारा विनोद ! मैं जाता हूँ। शायद वह अपने-आपे में नहीं है।

चन्द्रकान्त—लेकिन डॉक्टर ने तो बुखार की दवा दी है।

सरस्वती—और वैद जी ने अपच का काढ़ा, डॉक्टर साहब।

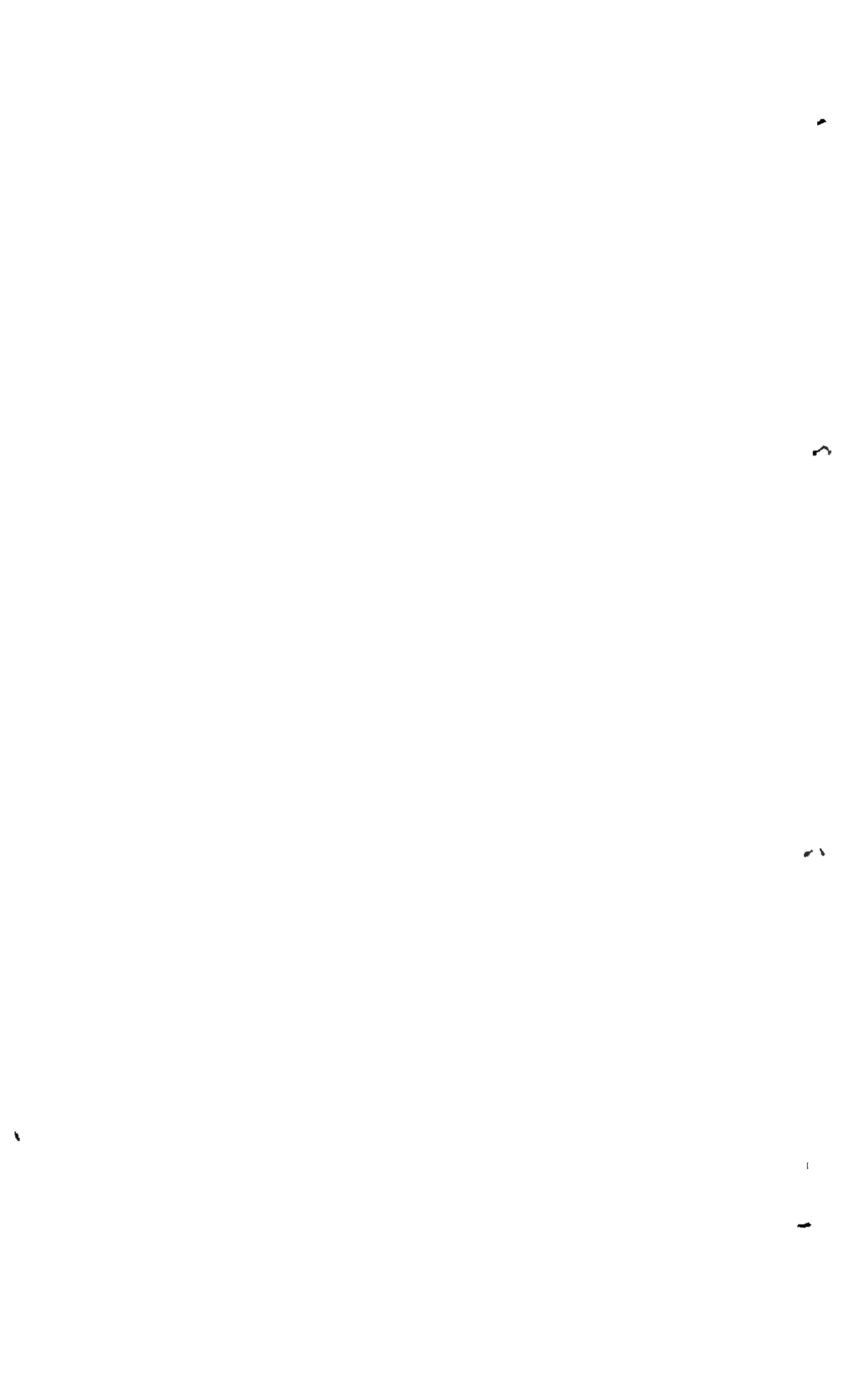
सुखिया—फायदा तो मेरे लाये पानी से हुआ है, मैं ओझा से फुँकवाकर पानी लाया था।

डॉक्टर—मिस्टर कान्ति, मुझे इस घर में सभी बीमार मालूम होते हैं, चलो।

सब—(चिल्लाकर) ओ डॉक्टर !

(पर्दा गिरता है)





आत्म-दान

पात्र

विश्वेश्वर	...	एक रईस
सरला	..	उसकी शिक्षिता पत्नी
मयूरी	...	एक नर्तकी
माथुर	...	सरला का टेनिस का साथी
सुषमा	...	सरला की सखी
मोहन	..	नौकर

•

आत्म-दान

(मिल-मालिक विश्वेश्वर अपने कमरे में टहल रहा है। ज़ोर-ज़ोर से चलने के कारण पैरों की आवाज आ रही है। इसी समय नौकर को आवाज लगाकर)

विश्वेश्वर—मोहन, ओ मोहन!

मोहन—जी सरकार।

विश्वेश्वर—कहाँ मर गए थे? बुलाते-बुलाते गला बैठ गया! कहाँ थे तुम?

मोहन—सरकार, रसोई में महाराज को सामान दे रहा था।

विश्वेश्वर—सामान दे रहा था। मेरी आज की डाक कहाँ है?

मोहन—बीबीजी के कमरे में।

विश्वेश्वर—(कड़ककर) मैंने तुमसे कितनी बार कहा कि मेरी डाक मेरे कमरे में रहनी चाहिए। तुमने वहाँ क्यों जाने दी?

मोहन—(धीरे से) सरकार, मालकिन अपने-आप ले गईं। उन्होंने कहा, शायद कोई उनकी चिट्ठी हो।

विश्वेश्वर—(और भी ज़ोर से) देखो, कान खोलकर सुन लो, आगे से मेरी कोई चिट्ठी इधर-से-उधर न हो, नहीं तो तुम्हें कान पकड़-कर निकाल दूँगा। समझे?

मोहन—सरकार, मैं मालकिन से ··

विश्वेश्वर—मैं नहीं जानता, मेरी डाक कमरे से इधर-उधर न

हो पाय, इसकी तुमको आखिरी चेतावनी है। मालकिन से कह दो, ऐसा ही है तो अपना लेटरबक्स लगवा ले।

मोहन—जी हजूर।

विश्वेश्वर—'जी हजूर' नहीं, कल से ही उनका• इन्तज़ाम कर दो। जाओ, कोई आवे तो भीतर बुला लाना। और सुनो, तुम्हारी मालकिन कब तक लौट रही हैं?

मोहन—वह क्लब से बाजार जाने को कह गई थीं।

(जाने की आवाज आती है, चिट्ठियों के फाड़ने की आवाज आती है)

विश्वेश्वर—(एक मासिक पत्र उठाकर काउच पर लेटकर पढ़ता हुआ) हमें वर्तमान युग में संगीत की अधिक-से-अधिक आवश्यकता है। जिस निदारुण परिस्थिति में से हम गुज़र रहे हैं, उसमें हमारे लिए संगीत-नृत्य नितान्त आवश्यक हो गया है। किसी भी गोलार्द्ध में संगीत गाया जाय तो वह हमें प्रभावित करेगा। नृत्य से बढ़कर व्यायाम कोई नहीं है। सौंदर्य-पिपासा की वृद्धि के साथ शारीरिक व्यायाम शरीर को ही नहीं, मन को भी स्वस्थ रखता है। संगीत और नृत्य । (कमरे में थपथपाने की आवाज आती है) कौन? दरवाजा खुला है, आइये, अन्दर आ जाओ।

(स्त्री का प्रवेश)

स्त्री—ओहो, आप! अकेले ही हैं क्या?

विश्वेश्वर—आओ मयूरी, तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

मयूरी—फिर क्या सलाह है, चल नहीं रहे हो? चलो न। उफ, कितना घुट है इस कमरे में। पंखा ज़रा तेज़ करो। बिजली का एक बत्ती बुझा दो। इतनी रोशनी में मुझे चौंध लगती है। सब दरवाजे बन्द हैं, आखिर मामला क्या है? अकेले बैठे हो! कुशल तो है? (टहलती हुई इधर-उधर होकर) वही पुराना दकियानूसी 'सोफा-सेट'

मैला ! (टहलती रहती है) इसी बूते पर तुम कहा करते थे कि आया करो। सुनो, मैं अब चलूँगी।

विश्वेश्वर—तुम्हारी इतनी बातो का उत्तर मैं एक ही बार मे तो दे नहीं सकता। सोफा-सेट अभी बिलकुल नया खरीदा है, अभी तो आठ ही दिन हुए है। बैठो न। चाय का एक प्याला पी लो न, क्या हर्ज है। (खडा होकर) इधर बैठो। चाय मगाता हूं। (नौकर को पुकारकर) मोहन, अरे मोहन, महाराज से कहो, दो प्याला चाय जल्दी। मेम साहब ज्यादा देर नहीं ठहर सकतीं।

मयूरी—चाय मैं इस समय नहीं पीऊँगी। 'मूड' नहीं है। वैसे शाम को मैंने 'हैवी टी' ली है। (बैठकर) ओ आराम मिला। सचमुच बड़ा मुलायम सोफा-सेट है। पर यह 'कलर' तुमने क्या पसन्द किया ? एकदम मटमैला। खैर, जाने दो, कहीं मेरे कपडे तो मैले नहीं हो जायंगे। पहले तो ऐसा लगा कि जैसे किसी कबाडी के यहाँ से खरीदकर लाये हो। मिस्टर विश्वेश्वर, तुम्हारी कोठी का नक्शा मुझे पसन्द है। लेकिन सजावट बिलकुल नापसन्द। सरला कहाँ है ?

विश्वेश्वर—शायद क्लब से 'शापिंग' को गई है। अभी आने में देर है। वैसे भी मैं उनकी परवा नहीं करता। तुम बेचैन-सी दिखाई दे रही हो ?

मयूरी—(कपडे सभालकर) नहीं-नहीं, बिलकुल नहीं। मैं क्यों घबराऊँगी।

(नौकर चाय लाकर रख देता है)

विश्वेश्वर—मोहन देखो, कमरे की खिडकियाँ ज़रा भी साफ नहीं हैं। अभी मैंने सामने की खिडकी खोली तो हाथ में मिट्टी लग गई। ज़रा तमीज़ से काम किया करो। अरे, कुछ खाने को नहीं लाया ? जा, ले आ।

मयूरी—अब और मैं कुछ भी न लूँगी, केवल तुम्हारे आग्रह से एक प्याला चाय। समझे मिस्टर विश्वेश्वर! अभी शाम को 'स्टिफिल्स' में चाय पी। मिस्टर और मिसेज शर्मा का बहुत दिनों से आग्रह था, जाना ही पड़ा। वह भी आज 'डान्स' में शामिल होंगे। मिसेज शर्मा तो शायद ही आवें। वैसे वह मोटी भद्‌-भद्‌-सी औरत मुझे पसन्द भी नहीं आई। एकदम जैसे भैंस! इन औरतों को ठीक तरह से रहना भी तो नहीं आता। शायद वह बहुत पढ़ी-लिखी भी नहीं है। यह मानना पड़ेगा मिस्टर विश्वेश्वर, कि इस नई सभ्यता ने स्त्रियों का बड़ा उपकार किया है, वरना तुम लोगों ने तो हमें अपनी दासी बनाने में कोई कसर छोड़ी न थी। आज स्त्री खुली आँखों से संसार को देख सकती है। उसके पैरों में चलने की ताकत आ गई है। उसके हाथ-पैर खुल गये हैं।

विश्वेश्वर—निःसन्देह मयूरी, मैं तुम्हारी बात के महत्व को स्वीकार करता हूँ। तुम रहने दो, मैं चाय बनाता हूँ। आखिर तुम अतिथि हो न?

मयूरी—अतिथि क्यों, क्या मैं नई आई हूँ। तुमसे पहले तो सरला से मेरी जान-पहचान हुई। पर वह स्त्री ईर्ष्यालु है। मेरा तुम्हारे घर आना भी तो पसन्द नहीं करती।

विश्वेश्वर—तुम औरतों की बातें तुम्हीं जानो। जरा बात में खुश और जरा बात में नाखुश। लो (चाय देता है)।

मयूरी—इस प्याले के बदले में मैं तुम्हें अपने साथ नाचने का निमन्त्रण देती हूँ। हालांकि मिस्टर शर्मा मेरे साथ नाचने को बेचैन हैं। लेकिन 'स्टिफिल्स' में चाय पिला देने-भर से ही कोई मुझे बाँध नहीं सकता। चाय अच्छी है। और तुम्हारे हाथ की एक प्याला और बनाओ।

विश्वेश्वर—मेरा सौभाग्य है। लीजिए, लो प्रिये!

मयूरी—मैं शादी और प्रेम में अन्तर मानती हूँ। शादी दो आदमियों का—गृहस्थ का—'कण्ट्रैक्ट' है। प्रेम बिलकुल अलग चीज़ है। यदि विवाह के बाद एक पुरुष किसी से मित्रता बनाये रख सकता है तो एक स्त्री भी एक पुरुष को अपना मित्र बना सकती है। कोई रुकावट क्यों हो ?

विश्वेश्वर—जीवन बन्धन के लिए नहीं है मयूरी, आँखें क्या एक ही चीज़ को देखने के लिए हैं ? मैंने सरला को छुट्टी दे दी है। वैसे मैं भी बँधकर रहना पसन्द नहीं करता।

(इसी समय सरला कपड़े तथा अन्य सामान लपेटे कमरे में आती है। सामान का कागज चरमरा उठता है। मयूरी को विश्वेश्वर के हाथ से चाय का प्याला लेते देखकर)

सरला—मुझसे भूल हुई, क्षमा चाहती हूँ मयूरी, मैंने अनजाने में तुम्हारे एकान्त में विघ्न डाला। बँधने की आवश्यकता नहीं है।

विश्वेश्वर—विघ्न नहीं, असभ्यता है। जब तुम्हारा कमरा निश्चित है तब बिना सूचना दिये आना।

सरला—(मुड़कर) असभ्यता मेरी या तुम्हारी। पराई स्त्री के साथ एकान्त में बैठना। मयूरी, क्या तुम्हें कुछ भी लज्जा नहीं रह गई ?

मयूरी—सरला, (एकदम खड़ी होकर) मिस्टर विश्वेश्वर, यह मेरा घोर अपमान है। सुना तुमने। मैं अब यहाँ एक मिनट भी नहीं ठहर सकती।

विश्वेश्वर—सरला, मुझे कहने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए। तुम सीमा से आगे बढ़ रही हो। मेरी स्वतन्त्रता में बाधा डालने का तुमको कोई अधिकार नहीं है।

सरला—(सब सामान फर्श पर पटककर) अधिकार, मुझे सब प्रकार का अधिकार है। तुम मेरे पति हो। यदि पति का स्त्री पर अधिकार है तो स्त्री का भी अपने पति पर अधिकार है।

विश्वेश्वर—तुम इस कमरे से चली जाओ, नहीं तो बुरा होगा। आई आज नया स्त्रीत्व का दावा करने। तुमने अपने-आप ही तो यह रास्ता बनाया है। जब मैंने तुम्हें क्लब जाने से रोका, तब तुमने क्यों कहा कि एक पढ़ी-लिखी स्त्री बँधकर नहीं रह सकती। जब मैंने तुम्हें रेकिट लेकर टेनिस खेलने जाने से रोका, तब तुमने क्यों मेरे सामने नारी के महत्व पर एक लम्बा व्याख्यान दे डाला, दो दिन तक खाना न खाया। जब तुम्हें मिस्टर माथुर के साथ टेनिस खेलने में कोई आपत्ति नहीं है, तब मयूरी के साथ एकान्त में मेरे बैठने पर तुम्हें आपत्ति क्यों होनी चाहिए? क्या यह केवल इसलिए कि मयूरी से तुम्हारी लड़ाई हो गई है? जाओ, अब हम दोनों का मार्ग अलग है। तुम यदि स्वतन्त्रता चाहती हो, तो मुझे भी स्वतन्त्रता दो।

मयूरी—मैं जाती हूँ मिस्टर विश्वेश्वर, ताँगे वाला प्रतीक्षा कर रहा होगा।

विश्वेश्वर—ठहरो मयूरी, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ।

मयूरी—नहीं-नहीं, तुम पीछे आना। मुझे अभी एक और काम है। यहाँ से मैं 'बॉलरूम' में जाऊँगी। लेकिन सरला, तुमने मेरा अपमान किया है। मैं इसका बदला लूँगी। मैं जाती हूँ। (लौटकर) एक बात और कहे देती हूँ कि तुम्हारे रहते अब इस घर में पैर न रखूँगी।

(सरला और मयूरी चली जाती है, विश्वेश्वर जोर से टहलता रहता है)।

विश्वेश्वर—मोहन, ओ मोहन!

मोहन—जी सरकार।

विश्वेश्वर—ड्राइवर से कहो, 'कार' तैयार करे। मैं अभी जाऊँगा।

सरला—(कमरे में आकर) खाना?

विश्वेश्वर—(कुछ भी उत्तर न देकर) कार के लिए ड्राइवर को जल्दी सूचना दो मोहन।

मोहन—बहुत अच्छा। (जाता है)

सरला—यह तुम्हारी डाक है।

(विश्वेश्वर डाक उठाकर कमरे में फेंक देता है)

विश्वेश्वर—'स्टुपिड', 'नान्सेंस'!

सरला—क्या खाना न खाओगे ?

विश्वेश्वर—मोहन! ड्राइवर नहीं आया? (कोई उत्तर नहीं आता) ड्राइवर का बच्चा न जाने कहाँ चला गया! मोहन, मोहन!

सरला—चिल्ला क्यों रहे हो, बुलाने गया है, आता होगा। मैं भी तो सुनूँ, आखिर मुझसे किस बात की नाराज़गी है।

विश्वेश्वर—मैं तुमसे बात नहीं करना चाहता। तुमने मेरे एक अतिथि का अपमान किया।

सरला—क्या मयूरी तुम्हारी अतिथि है? वह छिनाल औरत!

विश्वेश्वर—जबान सँभालकर बात करो, वरना अच्छा न होगा।

सरला—जो होना हो, हो ले। मैं पूछना चाहती हूँ, क्या उसके सामने तुमने मेरा अपमान नहीं किया? मैं तुम्हारे कमरे में चली आई, तो मैंने क्या बुरा किया? क्या तुम्हारे कमरे में आने का मुझे अधिकार नहीं?

विश्वेश्वर—नहीं है। जैसे तुम स्वतन्त्र हो, वैसे ही मैं भी स्वतन्त्र हूँ। मैं तुमसे कब पूछता हूँ कि तुम क्लब क्यों जाती हो—मिस्टर माथुर के साथ टेनिस क्यों खेलती हो—दिन-भर सखियों-सहेलियों में क्यों घूमती-फिरती हो? मैं कहता हूँ, फिर मुझे तुम कैसे रोक सकती हो? जाओ अपना काम करो?

सरला—नहीं, यह नहीं होगा। तुम मयूरी के साथ नहीं रह सकते। उसके साथ नहीं नाच सकते।

विश्वेश्वर—(आगे बढ़कर) आज मयूरी कह रही थी शादी और प्रेम दो अलग चीज़ें हैं। वह ठीक ही कह रही थी। क्या तुम क्लब जाना छोड़ सकती हो ?

सरला—क्लब तो मैं इसलिए जाती हूँ कि ज़रा मन बहल जाय। टेनिस तो एक व्यायाम है। क्या तुम्हें मेरा व्यायाम करना बुरा लगता है ? रही मिस्टर माथुर के साथ टेनिस खेलने की बात। उसमें कोई हानि मैं नहीं देखती। वह निष्कपट, सरल-हृदय व्यक्ति है। आश्चर्य है, तुम्हें उनसे ईर्ष्या हो रही है !

विश्वेश्वर—मयूरी भी वैसी ही निष्कपट निश्छल है। तुम मेरी आँखों से देखो, तो तुम्हें उसके गुण दिखाई दें। उस जैसी नृत्य-कला में कुशल एक भी स्त्री हमारे समाज में नहीं है। तुम उससे इसलिए ईर्ष्या करती हो कि तुममें उस जैसे गुण नहीं हैं।

सरला—वैसा रूप-सौन्दर्य भी शायद मुझमें नहीं है ! वैसे नखरे भी मुझमें नहीं हैं ! मैं हाव-भाव दिखलाकर पुरुषों को मुग्ध नहीं कर सकती।

विश्वेश्वर—व्यंग्य से कहे हुए भी तुम्हारे ये वाक्य सत्य हैं। तुमसे मुझे आत्म-तोष के लिए मिलता ही क्या है ? सारा उत्साह, सारी प्रसन्नता और मर्मभेदी मुस्कान तुम क्लब में लोगों को बाँट आती हो। मेरे पल्ले पड़ता है केवल तुम्हारा सिर-दर्द, ऋतु की गर्मी, परेशानी, रात का उनींदापन। यह तो समानता की बात है। जितना तुम मुझे दोगी, उतना ही मुझसे लोगी। इसलिए मैं मयूरी की यह बात मानता हूँ कि प्रेम और शादी दो अलग चीज़ें हैं। हम लोग बिना नौकरी के एक दूसरे के साथी हैं, जिसमें कोई रस नहीं है। तुमने शादी के बाद जिस समाज की माँग की, उसके लिए ज़िद की, वह तुम्हें मिल गया। उसमें तुम्हारा मन-बहलाव होता है। शादी के बाद पिछले एक वर्ष तक मैं तुम्हें पाने का यत्न करता रहा, पर तुम

उड़ी-उड़ी, कहीं इधर कहीं उधर फिरती रही। तुम्हें समाज चाहिए था, वह तुमने आग्रह करके ले लिया। अब तुम्हें मुझसे क्या शिकायत हो सकती है। मैं भी तो मनुष्य हूँ। मुझे भी मनोरंजन चाहिए। मैंने अपना रास्ता निकाल लिया। जीवन केवल भार ढोने के लिए नहीं है। उसे रस भी चाहिए। उसे चहल-पहल, हँसी-खुशी, प्रेम का आदान-प्रदान चाहिए। वही पाने का मैंने यत्न किया है।

सरला—तो क्या तुम चाहते हो कि मैं इस घर में दिन-रात पड़ी रहूँ? तुम्हारे आने की प्रतीक्षा में अपना स्नेह, मुस्कान संचित करती रहूँ? जब तुम घर में आओ तो मैं तुम्हारे सामने आकर खड़ी हो जाऊँ? नौकर के देर से आने पर तुम्हारे जूते के फीते भी खोलूँ? तुम्हारे कपड़े भी टाँग दूँ? बिजली ख़राब होने पर तुम्हें पखा भी करूँ? तुम चाहते हो न मैं किसी से मिलूँ, न किसी से बात करूँ। याद रखो, मैंने तुम्हारी बेदाम की दासी बनने के लिए इतना व्यर्थ नहीं पढ़ा-लिखा है। मेरे भी कुछ अधिकार हैं। मैं उनकी रक्षा करूँगी। अब वह समय चला गया जब पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ पति को परमेश्वर मानकर उनकी सभी उचित-अनुचित बातें सहे। मुझमें वह विवेक है कि अपना और नारी-जाति का भला-बुरा समझ सकूँ।

विश्वेश्वर—फिर तुम मुझे मयूरी से मिलने से क्यों रोकती हो? यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि तुम्हारा और मेरा रास्ता अलग-अलग है। हम दोनों की शादी हुई है, इसलिए हम एक दूसरे के साथ बँध गये हैं। जैसे एक ही निश्चित दिशा की ओर जाने वाले दो मुसाफ़िर एक गाड़ी में एक बर्थ पर आकर बैठ गये हों। रास्ता काटने के लिए हम लोग आपस में बातें कर लेते हैं। एक दूसरे को बांटकर खा-पी भी लेते हैं, सो भी जाते हैं। पर हम दोनों का हृदय-रूपी सामान अलग-अलग है। उसमें हम हाथ नहीं लगा सकते। आवश्यकता पड़ने पर हर्ज-मर्ज में एक दूसरे की सहायता भी करते हैं, बस।

सरला—लेकिन मैं तो ऐसा नहीं मानती। हम दो साथी हैं बराबर के। एक दूसरे का साथ देने वाले, गृहस्थी की नाव को चलाने वाले।

विश्वेश्वर—प्रेम-रहित जीवन की नाव को चलाने वाले! प्रेम-सहित भी, जैसा मौका हो।

सरला—नहीं, उस जीवन में प्रेम होना ज़रूरी है। लेकिन, लेकिन वह स्त्री को किसी एक पुरुष से बाँध नहीं सकता, उसके हँसने-खेलने के लिए और जगह भी गुंजाइश होनी चाहिए।

विश्वेश्वर—बेशक। गुंजाइश हो। मैं उसे कब रोकता हूँ। अच्छा, मैं जा रहा हूँ। मयूरी 'बॉलरूम' पहुच गई होगी। उसने मुझे अपने साथ नाचने का निमंत्रण दिया है। आज मैं रात का खाना नहीं खाऊँगा। शायद दो बजे तक लौटूँ। जाओ, अपना काम करो। (चला जाता है)

सरला—(पीछे चलती हुई) सुनो तो। जरा जल्दी आना। (धम्म से काउच पर बैठकर) मयूरी रॉड कहीं की। इसीने मेरे घर में आग लगाई है। (चुप हो जाती है) इसीने मेरे घर में आग लगाई है। मैं दासी नहीं हूँ। मैं झुक नहीं सकती। जाते हो तो जाओ। (चुप्पी)

मोहन—खाना तैयार है सरकार।

(सरला दीवार की तस्वीर की ओर ताकती रहती है)

मोहन—खाना तैयार है।

सरला—(तेज़ी से) तुम लोग खा लो, मैं नहीं खाऊँगी। और सुनो, साहब भी आज घर पर खाना नहीं खायेंगे। वह रात को दो बजे तक लौटेंगे।

मोहन—सरकार, ऐसे कैसे काम चलेगा। मैं देख रहा हूँ, आप में और साहब में रोज़-रोज़ कुछ-न-कुछ तनाव बढ़ता जाता है। मैं मूरख हूँ, पर आपका ही नमक तो खाता हूँ। मुझे बड़ा दु:ख है। पिछले एक साल से इस घर में अब वैसी बात नहीं है।

सरला— मैं क्या करूँ मोहन, तुम्हारे साहब ही बिगड़ते जा रहे हैं। उस मयूरी को ' ' भला कब आई थी वह रांड ?

मोहन—आपके आने से कोई एक घंटा पहले।

सरला—उसी ने कोई जादू कर दिया है उन पर। पहले तो वे ऐसे नहीं थे। (थोड़ी देर चुप रहकर, 'कुशन' पर सिर रखकर रोने लगती है।)

मोहन—(कुछ देर खड़ा रहकर) मालकिन, आप ही मनाइये साहब को। वह पति हैं।

सरला—(तेज़ी से) पति होने से क्या मैं उनकी लौंडी हूँ, गुलाम हूँ, दासी हूँ जो उनकी खुशामद करूँ ? जाओ, तुम्हारा दिमाग ख़राब है। तुम नहीं समझ सकते।

मोहन—अच्छा, मालकिन ! जैसी आपकी मर्ज़ी। मैं तो मूरख हूँ।

(सरला फिर सुबक-सुबक कर रोने लगती है। इसी समय बाहर से किवाड़ खटखटाने की आवाज आती है।)

सरला—(सिर उठा कर) कौन, कौन है ? अन्दर आओ।

माथुर—सरला, क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ?

सरला—(एक दम आँसू पोंछकर) आइये, आइये मिस्टर माथुर, हलो हाऊ गुड ऑफ यू ?

[माथुर आकर सरला के साथ काउच पर बैठ जाता है। हैट मेज पर रख देता है।]

माथुर—आज तुम जल्दी क्यों चली आईं सरला ! क्या कुछ काम था ? मेरा भी मन न लगा। तुम्हारे आने के बाद न मैंने कोई गेम ही

खेला, हालाँकि वह लम्बू मियाँ कहते रहे। मुझे उस आदमी से घृणा है; पर न जाने क्यों हमेशा वही हमारे मुकाबले मे खेलता है। ओ ज़िन्दगी में कितनी मुसीबतें हैं। नान्सैन्स, ओ हाऊ ब्यूटीफुल ! हाँ, सरला ?

सरला—आदमी तो बुरा नहीं है। बिचारा जब-तब हमारी खुशामद ही तो किया करता है। उस दिन उसने 'टी' पर हमको बुलाया, लेकिन मैं तो तुम्हारे पीछे नही गई।

माथुर—वह आदमी मक्कार है। देखती नहीं हो, कैसी बिज्जू की-सी छोटी-छोटी आँखें हैं।

सरला—ऐसे आदमी कभी-कभी बडा काम देते हैं मिस्टर माथुर ! चाय पियोगे ? मोहन ! ओ मोहन ! न जाने कहाँ भाग गया। इन नौकरों के मारे जी परेशान है।

मोहन—जी।

सरला—साहब के लिए चाय तो लाओ।

[मोहन चला जाता है]

माथुर—चाय मैं नही पियूँगा। अभी पीकर आ रहा हूँ। और सुनो, कल रात सरकारी काम से शिमले जा रहा हूँ। मैं चाहता

सरला—शिमले ! कब तक लौटोगे ?

माथुर—एक सप्ताह तक, शायद ज्यादा दिन भी लग जाय। रिफ्यूजी रीहेबीलिटेशन की मीटिंग है, उसी मे। शिमला बड़ी अच्छी जगह है सरला ?

सरला—जानती हूँ माथुर ! बचपन मे एक बार गई थी।

[कुछ सोचती हुई आँसू पोंछने लगती है]

माथुर—क्या बात है सरला।

सरला—कुछ नहीं। कुछ नहीं (ज़रा हटकर बैठती है, इसी समय मोहन चाय रखकर चला जाता है)

माथुर—(पीठ पास सरक कर) सरला, मनुष्य का जीवन दु:ख भोगने के लिए नहीं है। मनुष्य को सुख पाने का अधिक-से-अधिक प्रयत्न करना चाहिए। मैं परलोक में विश्वास नहीं करता। वह ढोंग है। हमारा जीवन-सौंदर्य ज्ञान की पिपासा को शांत करने के लिए है। जैसे फूल के खिलने का उपयोग है सुगन्ध, सुन्दरता बाँटना। ठीक इसी तरह सौन्दर्य का पालन करना हमारे जीवन का उपयोग है। सरला, तुम कितनी सुन्दर हो।

सरला—मेरे जीवन फूल की बेल में घुन लग गया है माथुर, मैं तंग आ गई हूँ।

माथुर—मैं भी तो सुनूँ। क्या आज फिर कोई झड़प हो गई? वह आदमी भी एकदम मूर्ख है। गया कहाँ है वह?

सरला—उस मयूरी के साथ डान्स करने गये हैं। मुझे डाटते हैं कि तुम क्लब क्यों जाती हो?

माथुर—मयूरी, मयूरी जादूगरनी है। मैं भी उसके फंदे में आ चुका हूँ। एकदम मक्कार। लेकिन तुम्हारी और उसकी क्या बराबरी? लो एक प्याला पियो, तबियत ठीक हो जायगी। तबियत ठीक रखने के लिए कभी-कभी एकाध पैग ले लेना बुरा नहीं है। और तुम्हें तो न जाने क्यों कुछ चिढ़-सी है। फिर शिमले का

सरला—मैं शिमले नहीं जा सकती मिस्टर माथुर।

माथुर—काश कि एक बार हम लोग साथ-साथ चलते। चलो सरला (सोफे के नीचे उसके पैरों के पास बैठकर) चलो।

सरला—(चुप) तो क्या तुम कार में आये हो? सोफे पर बैठो न! कोई देखेगा तो क्या कहेगा।

माथुर—नहीं, पैदल ही आया हूँ। कार मैंने घर भेज दी थी। काम था। (सोफे पर बैठकर)

सरला—एक बात पूछूँ। यशोदा क्लब क्यों नहीं आती?

माथुर—वह चार-पाँच बच्चों की माँ क्या क्लब जायगी !

सरला—क्यों ?

माथुर—अरे, क्यों क्या ? सूरत-शकल भी हो। न बातचीत का सलीका, न सभ्यता, वह कैसे क्लब में आ सकती है।

सरला—और रजनी !

माथुर—वह तो अभी पढ़ ही रही है। वैसे मैं उसका क्लब में । खैर जाने दो इन बातों को, तुम शिमले क्यों नहीं चलतीं ? चलो न ! तुम्हारी तबियत बहल जायगी। विश्वेश्वर को मालूम होगा कि सरला के न होने पर घर का और उनका क्या हाल होता है। न जाने क्यों उस मूर्ख ने इस सुन्दर कमलिनी को दुत्कुरा रखा है। बात सच है जब आदमी में विवेक नहीं रहता तब उसकी यही हालत होती है। काश कि तुम (खड़ा होकर)

सरला—तुम क्या, (खड़ी होकर माथुर का हाथ अपने हाथ में लेकर) क्या कहा है ये, कहो न ?

माथुर—तुम शिमले चलो। वह प्रकृति-सौंदर्य, ऊँचे-ऊँचे हरे-भरे लहलहाते पहाड़, ठंडी हवा, मस्ती का सागर। और हम दोनों।

[विश्वेश्वर मोहन-मोहन चिल्लाता एकदम कमरे में आ जाता है]

विश्वेश्वर—मेरा सिगरेट-केस कहाँ है ? (सामने देखकर) तुम माथुर, सरला ?

माथुर—(सटपटाता हुआ) हाँ मिस्टर विश्वेश्वर ! हलो, हाऊ डू यू डू ! मैं कल सरकारी काम से शिमले जा रहा हूँ। यही कहने

विश्वेश्वर—सरला को भी ले जाओ। वहाँ प्रकृति-सौन्दर्य, ऊँचे-ऊँचे हरे-भरे लहलहाते पहाड़, ठंडी हवा, मस्ती का सागर और तुम दोनों। मोहन मेरा सिगरेट-केस कहाँ है ? (कभी मेज की दराज टटोलता है, कभी आलमारी, क्रोध में सब चीज इधर-उधर फेंकता है)

माथुर—अच्छा भाई विश्वेश्वर मैं चला ? (चला जाता है)

सरला—क्या खो गया है, क्यों परेशान हो रहे हो ?

विश्वेश्वर—हट जा, दुष्टे, पापिनी, हट जा !

सरला—क्या कहा, फिर तो कहो। मैं क्या तुम्हारी लौंडी हूँ। जो तुम इस तरह बोलते हो। क्लब से जल्दी चले आने के कारण मिस्टर माथुर आये थे मेरा हाल-चाल पूछने, कहीं मेरी तबियत तो नहीं खराब हो गई। तुम्हारे मन मे पाप होगा। इसीलिए ?

विश्वेश्वर—मेरी आँखों मे धूल क्यो झोकती है। मैं सब जानता हूँ। मैंने सब कुछ सुना है।

सरला—क्या सुन चुके हो ?

विश्वेश्वर—माथुर कहता था कि मैं सरकारी काम से शिमले जा रहा हूँ। यही कहने खबर देने वह आया था। तुम कहती हो तुम्हारे जल्दी चले आने पर हाल-चाल पूछने आया था। खैर जाने दो। मैं भी इसी तरह की बाते करता हूँ। सभी प्रेमी इसी तरह कहते है। सरला, क्यों तुम शिमले नहीं चली जाती (ठठाकर) वह प्रकृति-सौन्दर्य, ऊँचे-ऊँचे हरे-भरे लहलहाते पहाड, ठंडी हवा, मस्ती का सागर, और फिर तुम दोनो। और क्या चाहिए सरला (धीरे-धीरे ताव में आकर) बोल, बोलती क्यों नहीं। इसीलिए क्लब जाती हो। व्यायाम होता है। दिल का व्यायाम होता है। सुन लो कान खोलकर सुन लो। मैंने निश्चय किया है, मयूरी यही रहेगी तुम्हे जहाँ काला मुँह करना हो करो। जहाँ जाना हो जाओ। मयूरी मरी है।

सरला—(चुप रहकर) मेरा बहुत अनादर हो रहा है।

विश्वेश्वर—अनादर ! मै क्यो अनादर करने लगा। जज की बेटी का अनादर मैं कर सकता हूँ, सरला का। मै तो बी० ए० पास भी नहीं हूँ ! तुम तो बी० ए० हो। छिनाल औरत (सर्राटे से बाहर चला जाता है)

सरला—मुँह संभाल कर बात करो। (कौच पर गिरकर फफक-फफक कर रोने लगती है।)

(सुषमा का प्रवेश)

माथुर—वह चार-पाँच बच्चों की माँ क्या क्लब जायगी !

सरला—क्यों ?

माथुर—अरे, क्यों क्या ? सूरत-शकल भी हो। न बातचीत का सलीका, न सभ्यता, वह कैसे क्लब में आ सकती है।

सरला—और रजनी !

माथुर—वह तो अभी पढ़ ही रही है। वैसे मैं उसका क्लब में । खैर जाने दो इन बातों को, तुम शिमले क्यों नहीं चलती ? चलो न ! तुम्हारी तबियत बहल जायगी। विश्वेश्वर को मालूम होगा कि सरला के न होने पर घर का और उनका क्या हाल होता है। न जाने क्यों उस मूर्ख ने इस सुन्दर कमलिनी को ठुकरा रखा है। बात सच है जब आदमी में विवेक नहीं रहता तब उसकी यही हालत होती है। काश कि तुम (खड़ा होकर)

सरला—तुम क्या, (खड़ी होकर माथुर का हाथ अपने हाथ में लेकर) क्या कहा है ये, कहो न ?

माथुर—तुम शिमले चलो। वह प्रकृति-सौंदर्य, ऊँचे-ऊँचे हरे-भरे लहलहाते पहाड़, ठंडी हवा, मस्ती का सागर। और हम दोनों।

[विश्वेश्वर मोहन-मोहन चिल्लाता एकदम कमरे में आ जाता है]

विश्वेश्वर—मेरा सिगरेट-केस कहाँ है ? (सामने देखकर) तुम माथुर, सरला ?

माथुर—(सटपटाता हुआ) हाँ मिस्टर विश्वेश्वर ! हलो, हाऊ डू यू डू ! मैं कल सरकारी काम से शिमले जा रहा हूँ। यही कहने

विश्वेश्वर—सरला को भी ले जाओ। वहाँ प्रकृति-सौन्दर्य, ऊँचे-ऊँचे हरे-भरे लहलहाते पहाड़, ठंडी हवा, मस्ती का सागर और तुम दोनों। मोहन मेरा सिगरेट-केस कहाँ है ? (कभी मेज की दराज़ टटोलता है, कभी आलमारी, क्रोध में सब चीजें इधर-उधर फेंकता है)

माथुर—अच्छा भाई विश्वेश्वर मैं चला ? (चला जाता है)

सरला—क्या खो गया है, क्यों परेशान हो रहे हो ?

विश्वेश्वर—हट जा, दुष्टे, पापिनी, हट जा !

सरला—क्या कहा, फिर तो कहो। मैं क्या तुम्हारी लौंडी हूँ। जो तुम इस तरह बोलते हो। क्लब से जल्दी चले आने के कारण मिस्टर माथुर आये थे मेरा हाल-चाल पूछने, कहीं मेरी तबियत तो नहीं खराब हो गई। तुम्हारे मन में पाप होगा। इसीलिए ?

विश्वेश्वर—मेरी आँखों में धूल क्यों झोंकती है। मैं सब जानता हूँ। मैंने सब कुछ सुना है।

सरला—क्या सुन चुके हो ?

विश्वेश्वर—माथुर कहता था कि मैं सरकारी काम से शिमले जा रहा हूँ। यही कहने खबर देने वह आया था। तुम कहती हो तुम्हारे जल्दी चले आने पर हाल-चाल पूछने आया था। खैर जाने दो। मैं भी इसी तरह की बातें करता हूँ। सभी प्रेमी इसी तरह कहते हैं। सरला, क्यों तुम शिमले नहीं चली जाती (ठठाकर) वह प्रकृति-सौन्दर्य, ऊँचे-ऊँचे हरे-भरे लहलहाते पहाड़, ठंडी हवा, मस्ती का सागर, और फिर तुम दोनों। और क्या चाहिए सरला (धीरे-धीरे ताव में आकर) बोल, बोलती क्यों नहीं। इसीलिए क्लब जाती हो। व्यायाम होता है। दिल का व्यायाम होता है। सुन लो, कान खोलकर सुन लो। मैंने निश्चय किया है, मयूरी यहीं रहेगी तुम्हें जहाँ काला मुँह करना हो करो। जहाँ जाना हो जाओ। मयूरी मेरी है।

सरला—(चुप रहकर) मेरा बहुत अनादर हो रहा है।

विश्वेश्वर—अनादर। मैं क्यों अनादर करने लगा। जज की बेटी का अनादर मैं कर सकता हूँ, सरला का। मैं तो बी० ए० पास भी नहीं हूँ। तुम तो बी० ए० हो। छिनाल औरत (सर्राटे से बाहर चला जाता है)

सरला—मुँह संभाल कर बात करो। (काउच पर गिरकर फफक-फफक कर रोने लगती है।)

(सुषमा का प्रवेश)

सुषमा—(सरला को रोते देखकर) सब कमरों में ढूँढकर इधर आई हूँ। अरे, क्या बात है, तबियत तो ठीक है न ? आँखें चढ़ी हुई हैं।

सरला—(हँसकर) कुछ नहीं, कहो, इस रात के समय कैसे आईं ? तुम तो उनमें से हो जो प्रोफेसर साहब के घर रहते बाहर नहीं निकलतीं।

सुषमा—ज़रा 'ओरिएण्टल बाम' लेने आई हूँ। उनके सिर में दर्द है। क्या करूँ, दिन-भर पढ़ते रहते हैं। मेरी शीशी टूट गई। उस दिन रामू ने मेज़ साफ करते वक्त गिरा दी। वैसे तो उसमें थोड़ा-सा है भी, मगर डर है कि शीशे का कोई टुकड़ा न रह गया हो। हाँ, तो जल्दी से हो तो दे दो।

सरला—नौकर को भेज देती। तुमने इस समय क्यों कष्ट किया ? मोहन, ओ मोहन !

मोहन—(उठकर) जी मालकिन।

सरला—देख, मेरी आलमारी में सिर के दर्द से लगाने की शीशी रखी होगी, ले तो आ। जरा जल्दी ला। प्रोफेसर साहब को चाहिए। (सुषमा से) कहो, तुम्हारे डाक्टरेट के थीसिस का क्या बना ?

सुषमा—अभी तैयार कर रही हूँ। बेहद किताबें हैं। सिर उठाने की फुर्सत नहीं मिलती। इधर उनकी एक किताब तैयार हो रही है, उसके लिए 'रेफरेन्स' निकालकर देने पड़ते हैं। वह तो चाहते हैं कि मैं उसमें कोई सहायता न करूँ, पर जी नहीं मानता। उन्हें दिन-रात लगे देखकर मैंने भी उनको सहायता देने का निश्चय कर लिया है। मेरा ज्ञान भी तो बढ़ जायगा। सच तो यह है कि वह देवता हैं।

सरला—तुम बड़ी सौभाग्यवती हो बहन, जो तुम्हें ऐसा पति मिला।

सुषमा—तुम क्या कम हो ? रुपयों में खेल रही हो। हम लोग तो मज़दूर हैं। दिन-रात काम करते हैं। तुमने सुना, वह अगले तीन मास तक विलायत जा रहे हैं—लन्दन की ऐतिहासिक परिषद् में शामिल होने। मुझसे भी कह रहे हैं कि तुम भी चलो। क्या सलाह है—चली जाऊँ ? लन्दन-म्यूज़ियम में बैठकर कुछ काम भी कर लूँगी।

सरला—अवश्य। ऐसा अवसर फिर कब मिलेगा (आह भरती है)

(मोहन दवा की शीशी लेकर आता है)

मोहन—यह शीशी मिली सरकार।

सरला—हाँ-हाँ, यही है। जा, प्रोफ़ेसर साहब को दे आ।

सुषमा—यह क्या दे आयगा। मैं ही स्वयं ले जाऊँगी। ला, मुझे दे, मोहन !

सरला—नहीं-नहीं, तुम थोड़ी देर बैठो। मोहन दे आयगा। (मोहन से) और देख, यह 'बाम' लगाकर ज़रा मालिश कर देना, सुषमादेवी अभी आती हैं। (सुषमा से) तुम घबराओ मत। मोहन साहब के सिर पर अक्सर मालिश करता रहा है। बड़ा होशियार है। ज़रा मैं तुमसे बात करना चाहती हूँ।

सुषमा—लेकिन लेकिन यह काम तो मैं ही करूँगी सरला बहन ! उन्हें क्या किसी के हाथ का काम पसन्द आता है ! (मोहन की ओर मुड़कर) अच्छा, जा, ले जा। और देख, हल्के-हल्के मालिश करना। कहीं ज़ोर से मसलना शुरू न कर देना। कहना, बहन सरला ने रोक लिया है, अभी आती हैं। (फिर सरला से) सचमुच मेरा जी वहाँ लगा रहेगा। ख़ैर, मतलब की बात कहो। (मोहन से पुन) और मोहन, देख, अगर माथे पर पसीना हो तो पहले साफ़ तौलिये से, कहीं पलंग के सिरहाने रखा होगा, पोंछ लेना। ज़रा होशियारी से।

उनसे कहना, अब आप लेट जाइए, मैं मालिश किये देता हूँ। मैं अभी आई। यह ख्याल रहे, वह अब बिलकुल पढ़े नहीं, जा।

मोहन—मालकिन, थोडा-बहुत अवश्य खा लीजिए। तबियत खराब हो जायगी। (जाता है)

सुषमा—क्या तुमने खाना नहीं खाया? विश्वेश्वर बाबू कहाँ हैं?

सरला—डान्स में गये हैं। मेरा तो जीवन भार हो गया है बहन! दिन-रात चख-चख रहती है। मुझे तो कोई सुख नहीं है। चाहती हूँ, किसी तरह इस संसार से छुटकारा पा जाऊँ। तब शायद शान्ति मिले।

सुषमा—मैं बहुत दिनों से देख रही हूँ, तुम दोनों की बनती नहीं है। बात क्या है?

सरला—बात कुछ भी नहीं है, और है भी! मैं क्लब जाती हूँ, मिस्टर माथुर के साथ टेनिस खेलती हूँ—यह उन्हें नापसन्द है। आखिर मैं इतनी पढ़ी-लिखी हूँ। क्या उनके सामने 'सरेंडर' कर दूँ? मेरी भी तो इच्छा है। अब वह उस 'डान्सर' मयूरी को प्यार करने लगे हैं। आज उसीके साथ नाचने भी गये हैं। अभी-अभी शाम को, जब मैं क्लब से होकर बाज़ार से 'शापिङ्ग' करके लौटी, तो देखा कि वह साँपिन उनके साथ बैठी चाय पी रही है—दोनों में घुट-घुटकर बातें हो रही हैं। और भी कुछ हुआ होगा, पर मैंने तो वही देखा। मेरी छाती पर साँप लोट गया। तुम्हीं बताओ, क्या मैं यह सब होने दूँ और कुछ भी न कहूँ?

सुषमा (रुककर) यह मयूरी कौन है?

सरला—एक क्रिश्चियन लड़की है। डान्स अच्छा करती है। खूबसूरत भी है। असली नाम तो कुछ और है, यह तो उसने नृत्य के कारण रख लिया है।

सुषमा—कब से विश्वेश्वर बाबू का उससे हेल-मेल बढ़ा है?

सरला—कोई चार महीने से।

सुषमा—इससे पहले?

सरला—इससे पहले क्लब जाते थे। मैं भी उनके साथ जाती थी, पर मैंने वह क्लब छोड़कर दूसरा क्लब 'ज्वायन' कर लिया है। उसमें लफंगे बहुत हैं।

सुषमा—क्या उस क्लब में तुम्हारा जाना उन्हें पसन्द था?

सरला—नहीं, उसमें मेरा एक 'क्लास-फैलो' था। उसके आग्रह से मैंने वह 'ज्वायन' किया था। उसकी बदली हो गई है। वह चला गया। तब मैंने और ही क्लब में नाम लिखा लिया। इन्हें यह भी पसन्द नहीं था कि मेरा वह मित्र मुझसे मिलने आता। आखिर वह मेरा चार साल का साथी था—क्या मैं उससे न बोलती, घर आने पर उसका सत्कार न करती? और, दूसरी बात यह है कि इनका भी जो उसने काम किया है, वह मेरी वजह से। पिछले दो साल का इन्कमटैक्स का हिसाब पास नहीं हो रहा था। सरकार को इनके भेजे हुए कागजों पर विश्वास नहीं था, वह 'इन्क्वायरी' चाहती थी। मैंने बीच में पड़कर मामला रफा-दफा करा दिया। उसके बदले में कहो या कुछ भी सही, उसीके कहने से मैंने क्लब 'ज्वायन' किया। यह इन्हें पसन्द न आया। बस, वहीं से लड़ाई शुरू हो गई। मैं क्यों झुकूँ? मैं क्या इनकी गुलाम हूँ?

सुषमा—इस झगड़े में दो बातें हैं—एक तो तुम्हारा पढ़े-लिखे होने का अभिमान, वह पहले भी था, अब झगड़े के कारण उग्र हो गया है, दूसरा आत्म-समर्पण का अभाव। प्रेम समर्पण चाहता है। समर्पण में केवल आत्म-दान ही नहीं, इच्छा-शक्ति भी है। तुम अपने पति को वह नहीं दे सकीं जो वह चाहते थे। तुम्हारा पढ़ा-लिखा होना सुन्दर होना, गौण है, वहाँ तो केवल समर्पण चाहिए। इस-

लिए उन्हें चिढ़ाने या आत्म-तोष के लिए तुम्हें दूसरे को खोजना पड़ा। यद्यपि वह आत्म-प्रवंचना है, और अपने को धोखा देना है। उन्होंने कहा था—'तुम क्लब में शामिल न हो।' तुम्हें नहीं जाना चाहिए था। बस वहीं बात समाप्त हो जाती। किन्तु तुम वैसा न कर सकीं।

सरला—तो इसका तो अर्थ यह हुआ कि मैं उनकी दासी हूँ।

सुषमा—इसका अर्थ यह कभी नहीं है कि तुम दासी हो। यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपनी प्रिय वस्तु को सुरक्षित रखना चाहता है—केवल अपना अधिकार चाहता है। तुम्हें वह अधिकार उन्हें दे देना चाहिए। तब तुम उन पर अधिकार कर सकती थीं, मयूरो से उन्हें दूर कर सकती थीं। केवल यही उपाय है। प्रेम का प्रपंच—अधिकार है। उसके बाद न कोई झगड़ा है—न आग्रह। दो का एकात्म हो जाना ही प्रेम है। निर्वाह उस एकात्मकता का ही नाम है। उसमें फिर न रूप-सौन्दर्य का अभाव ही बाधा डालता है, न व्यक्तित्व। दो व्यक्तियों का मिल जाना—एक हो जाना, प्रेम का परिणाम है। उसकी सीमाएँ फिर अनन्त हो जाती हैं। मेरे ही विवाह को लो, आज सात वर्ष होने आये, मैंने कभी उनके सामने अपने व्यक्तित्व का दावा नहीं किया। इसी तरह उन्होंने भी मेरी इच्छा के विरुद्ध कोई काम नही किया। एक दूसरे की इच्छा का आदर करते रहने पर ही गृहस्थ का काम चल सकता है। जो तुम उनसे लेना चाहती हो वह उन्हें पहले दे दो। इसीमें जीवन की सफलता है। तुम्हें वह वस्तु अपने-आप प्राप्त हो जायगी।

सरला—पर मेरे देने पर भी मुझे नहीं मिला।

सुषमा—तुमने निष्काम होकर दिया ही नहीं। जो कुछ दिया उसमें से बहुत-कुछ अपने व्यक्तित्व के लिए, अपने अभिमान के लिए, अपने सौन्दर्य के गर्व के लिए, रख लिया। इसलिए वह तुम्हारा दान—वह समर्पण अधूरा है। निश्चित है जितना

दोगी, उतना ही मिलेगा। अच्छा, मैं चलूँ, न जाने उनके दर्द का क्या हाल है ?

सरला—तुम्हारी बात मेरी समझ में आई। मैंने सचमुच आत्म-दान नहीं किया था। इसीलिए उनसे पाने की भी मैं अधिकारिणी नहीं रही। बहन, क्या सचमुच मैं उन्हें फिर पा सकूँगी ?

सुषमा—अवश्य।

सरला—एक बात और, पहले स्त्री ही समर्पण करने को क्यों तैयार हो, पुरुष क्यों नहीं होता ?

सुषमा—इसलिए कि पुरुष आर्थिक तथा सामाजिक पहलू से पहले से ही मज़बूत चला आ रहा है। पुरुष कमाता है, स्त्री खर्च करती है। वधू को वर अपने घर लाता है, वधू के घर वह नहीं रहता। यदि वधू के घर रहता और स्त्री कमाती, तो उसे आत्म-दान ग्रहण करने का पहले अधिकार होता। फिर भी, मेरी दृष्टि में, ये गौण बातें हैं। मैं तो तुम्हें समझा रही हूँ।

सरला—प्रेम आगे-पीछे, पहले और बाद का रूप नहीं देखता। अच्छा, मैंने तुम्हारा बहुत समय लिया।

सुषमा—हाँ, देखो, वह मोहन आ गया है। शायद वह सो गए हैं। देखूँ, चलूँ, उन्हें ठीक तरह से नींद भी आई है•• ।

मोहन—मालिक सो रहे हैं, आपको दो-एक बार पूछा भी था।

(सुषमा चली जाती है। विश्वेश्वर को लेकर ड्राइवर का आना)

सरला—ड्राइवर, क्या हुआ इन्हें ? यहाँ काउच पर लिटा दो।

ड्राइवर—साहब को बहुत नशा हो गया था सरकार। डान्स-रूम में पीते-पीते बेहोश हो गए। मैं जैसे-तैसे मोटर में लेकर आया हूँ।

विश्वेश्वर—(आँखें खोलकर) मयूरी, मयूरी, इधर आओ !

सरला—मैं सरला हूं। कृपा करके सो जाइए। आपकी तबियत ठीक नहीं है।

विश्वेश्वर—मैं तुमसे नहीं बोलता। तुम मेरे सामने से हट जाओ। दूर हो जाओ। तुम्हारा मेरा मार्ग अलग-अलग है।

सरला—नहीं-नहीं, ऐसा न कहो। मुझसे भूल हुई स्वामिन्! मैं प्रतिज्ञा करती हूं, मैं अब क्लब न जाऊंगी। जैसा तुम कहोगे, वैसा करूंगी। क्षमा करो। अरे! तुम्हारी घड़ी, फाउण्टन-पेन क्या हुए ?

विश्वेश्वर—(चौंककर) ड्राइवर ! घड़ी, फाउण्टन-पेन, शायद मेरा 'पर्स' भी गायब है !

ड्राइवर—सरकार, मुझे नहीं मालूम। बैरे ने आकर कहा—सब लोग चले गए हैं, साहब को मोटर पर ले जाओ, हम 'हाल' बन्द करने लगे हैं। मैं उसी की सहायता से आपको ले आया।

विश्वेश्वर—ठीक है मैं समझ गया। पर्स में दो हज़ार के नोटों के अतिरिक्त बड़े जरूरी कागज़ भी थे। उन्होंने मुझे तेज शराब पिलाकर लूट लिया। मैं अभी जाता हूँ।

सरला—यह सब मयूरी की करामात है। उसीने शराब पिलाकर लूटा है। इस समय आराम कीजिए।

विश्वेश्वर—(खड़े होकर) वे बहुत ज़रूरी कागज़ हैं सरला ! उनके बिना मैं लुट जाऊंगा, मैं बरबाद हो जाऊंगा। मयूरी ! तुम इतनी नीच और कमीनी हो, यह मुझे न मालूम था। मुझसे भूल हुई।

सरला—चलिए, मैं भी आपके साथ चलती हूँ। ड्राइवर, गाड़ी तैयार रखो।

विश्वेश्वर—मैं तो लुट गया सरला! लुट गया, मुझे क्या मालूम था कि प्रत्येक फूल में कांटे होते हैं। प्रत्येक सौन्दर्य के छलकते प्याले में विष भी होता है। मैं लुट गया सरला। मेरी सारी संपत्ति उन कागज़ों में थी। चलो, मेरा नशा उतर गया है। चलो। मुझे विश्वास है, अभी वह कहीं भी ले नहीं जा सकी होगी। मयूरी, तुम साँपिन हो।।

सरला—मुझे मालूम हो गया है मेरे अभिमान के मद में मूर्छा थी, विष था, मरण का संकेत था। मैंने आज जीवन का तरल, मादक, स्वच्छ रस प्राप्त किया है नाथ? मेरी आँखें खुल गईं।

विश्वेश्वर—चलो, हम दोनों ही भूले हुए थे।

(पर्दा गिरता है)



जीवन

(प्रतीक रूपक)

पात्र

केतकी	मालती
लवंगिका	वासन्ती
काम	वासना
यौवन	जरा

सौन्दर्य आदि

जीवन

(भौंरे गूंज रहे हैं। कोकिल बोल रही है। इसी समय वासन्ती गा रही है।)

यह वसन्त आया।

मन्द मन्द चरण धरे,
सौरभ-मय जगत् करे,
राग में विहार भरे,
कुसुम हास छाया।

यह वसन्त आया।

फूल फूल झूम उठे,
फूल फूल चूम उठे,
गा रही गीत दिशा,
हृदय कंत आया।

यह वसन्त आया।

लाल लाल ये पलाश,
लाल धरा का विलास,
भृङ्ग, कोकिला प्रमत्त,
स्वर्ग, मंग आया।

यह वसन्त आया।

(एकबारगी छमछम करती हुई मालती केतकी, लवंगिका आती हैं। थोड़ी देर तक संगीत के साथ वह छमछम की ध्वनि गूंजती रहती है)

मालती—तुमने सुना सखि, कैसा सुन्दर गीत गाया जा रहा है !

केतकी—सुना, जैसे हृदय के संपूर्ण तार किसी ने झनझना दिये हों। देखती हूँ जैसे आज सब-कुछ नया हो गया है।

लवंगिका—जैसे हृदय का सब-कुछ नाच उठा हो।

मालती—आनन्द-सागर की लहरें उठकर निराशा के तट को तोड़े दे रही हों। सब ओर आनन्द छा गया है। मेरे अंग-अंग में राग समा गया है।

केतकी—अपूर्व है।

लवंगिका—अद्भुत है।

मालती—सौन्दर्य, सुख, सौरभ से सब-कुछ भर गया है। देख नहीं रही यह समीर मेरी कोमल पखड़ियों को छूकर कभी चंपा के, कभी केतकी के और कभी सखी लवंगिका के धड़कते हुए हृदय को झुक-झुक कर चूम लेता है। लो यह भौंरा इधर ही आ रहा है। अरे, हटाओ न इसे।

भौंरा—प्राणप्रिये, बधाई है। (चक्कर लगाकर गूं-गूं गाता है)।

केतकी—हृदय हृदय को पहचानता है सखी। जो तुम्हारा है उसे मैं कैसे हटा सकती हूं। अरे, यह तो इधर आ गया। हट हट, ज़रा हटाओ इसे, हटाओ न।

भौंरा—मैं तुम्हारा हूँ प्रिये। (गूं-गूं गाता है)

मालती—हृदय हृदय को पहचानता है न केतकी। (हंसती है) लो लवंग, अब तुम्हारी बारी है।

लवंगिका—मेरा अपना क्या है जो मैं रोकूं।

मालती—तो क्या सदा इसी का है। समझी, जीवन समर्पण है। लो यह सामने कौन आ रहा है?

(भौंरा उड जाता है)

वासन्ती—नमस्कार बहन।

रूप—नमस्कार। क्या तुम्हीं गा रही थीं।

वासन्ती—जी।

मालती—क्या तुम्हारा नाम मैं जान सकती हूं?

वासन्ती—लोग मुझे वासन्ती कहते हैं।

लवंगिका—और तुम अपने को क्या कहती हो?

मालती—जो तुम अपने को कहती हो।

लवंगिका—मैं अपने को क्या कहती हूँ, यही तो नहीं जान सकी। जब ऋतुराज आते हैं तब मैं अपने को भूल जाती हूँ। मन्द समीरण उनका संदेश लेकर मेरी कपोल-पालि को स्पर्श कर सुध-बुध खो देता है। मैं कहती हूँ, प्रियतम का संदेश तो सुनाओ। वह कहता है, कहता क्या है चुप होकर मेरे चारों ओर नाचने लगता है। मेरे प्रत्येक अंग को छूकर उड जाता है। तब मैं

वासन्ती—ठहरो ठहरो, ज्ञात होता है सुध-बुध भूल जाने का अर्थ बहुत बोलना भी है।

मालती—यही तो इसमें दोष है। कभी-कभी रातों बोलती रहती है। कभी-कभी तो मैं इसके बोलने पर नींद में भी चौंक उठती हूँ। कहती बहुत बोलती हो। तब कहती है, तुझसे तो नहीं बोलती, मत सुन, कान बन्द कर ले, मैं तो बोलूँगी, जो कोई सुनेगा, उससे जी की बात कहूँगी। मेरी पत्तियाँ कोंपलें कभी-कभी इसकी बोली से

चौंककर मुझसे चिपट जाती । फूल पत्तों से, कलियाँ कोंपलों से, शाखा बड़ी शाखाओं से।

केतकी—इन दोनों को कभी यह बीमारी हो जाती है, सुना नहीं तुमने, मालती भी बोलने में पीछे रहने वाली नहीं है। मैं कहती हूँ इन दोनों से, देखो बहुत न बोलो, स्त्रियों को बहुत बोलना शोभा नहीं देता। मगर कोई मेरी सुने तब न। इनके पास रहना एक मुसीबत है। कभी दोनों भौंरों से बाते करेंगी। न होगा तो मुझीको उठाकर कुछ कहने लगेगी। मैं जब कहूँगी, चुप रहो सो जाओ तो लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगेंगी। क्या बताऊँ मेरे फूलों को कभी-कभी छेड़ने लगती हैं। मैं

वासन्ती—समझी, सभी एक-सी है।

केतकी—मैं कहाँ बोल पाती हूँ।

मालती—बस इसमें यही दोष है। दोनों जब बोलने पर आती हैं तो

वासन्ती—तुम तो गीत की बात कह रही थीं न।

केतकी—हाँ, तो आज प्रकृति में जो सब-कुछ नवीन-सा दिखाई दे रहा है वह, क्या तुम्हारा ही प्रताप है। क्या मैं पूछ सकती हूँ, तुम क्या गा रही थीं ?

मालती—तुम्हें गीत से मतलब या गाने वाले से। ठहरो, मैं पूछती हूँ।

केतकी—मेरी बात तो समाप्त हो लेने दो। हाँ वासन्ती ''

मालती—हाँ वासन्ती तुम '''

लवगिका—हाँ वासन्ती। मै पूछना

वासन्ती—मैं तुम तीनों का उत्तर देती हूँ। मेरा नाम वासन्ती है, मेरे पति का `. स्न्त है।

तीनों—वसन्त ?

वासन्ती—हाँ वसन्त। बहुत पुरानी बात है

मालती—(आह भरती है)

केतकी—(आह भरती है)

लवंगिका—हाँ क्या बात है पुरानी सखी ?

वासन्ती—ये दोनों आहें क्यों भरने लगीं।

लवंगिका—बिचारियों के पेट में दर्द होने लगा है। क्षमा करना। हाँ, तो फिर।

वासन्ती—पेट में दर्द। दोनों के एक साथ ?

लवंगिका—हाँ इनके एक साथ ही कभी-कभी दर्द होने लगता है।

वासन्ती—क्या ज़रा भी आगे-पीछे नहीं।

मालती—लवंगिका, तुम इनके हृदय की कहानी क्या जानो।

केतकी—लवंगिका, ऊंट पहाड़ के नीचे नहीं आया है।

लवंगिका—पुरानी बात है, हाँ तुम एक पुरानी बात सुना रही थीं वासन्ती !

वासन्ती—तुमने तुलसीदास का नाम सुना है न ?

केतकी—अरे वह राम-भक्त कवि।

लवंगिका—हाँ, हाँ, जिन्होंने राम को ईश्वर का अवतार मानकर भी उन्हें सीता के विरह में तड़पते वर्णन किया है।

मालती—समझी नहीं।

केतकी—इसमें समझ में न आने वाली क्या बात है। समझ लो तुलसीदास थे, बस।

वासन्ती—नहीं नहीं, यह बात नहीं है। बात यह है कि मैं वसन्त की पत्नी हूं, मेरा नाम वासन्ती है।

सब—अच्छा।

वासन्ती—खैर मतलब की बात कहूँ। ठहरो-ठहरो, ओह, कितना सुन्दर समय है, मन्द-मन्द समीर चल रहा है।

केतकी—और तुलसीदास ?

मालती—सचमुच, ठंडी-ठंडी हवा चल रही है।

लवंगिका—बिलकुल ग़लत। यों कहो शीतल-मंद-सुगंधित समीर बह रहा है। बह रहा है न ?

वासन्ती—बड़े बड़े-वृक्षों से लताएं उलझ रही हैं। मानो किसी ने चाँदनी तान दी हो। मानो प्रकृति आनन्द मे उमड़ी पड़ रही हो।

मालती—तुम तो बसन्त की पत्नी हो न। क्या कविता भी करती हो ?

वासन्ती—कविता ? मैं स्वयं कविता हूँ। प्रत्येक नारी कविता है मालती ! बात यह है इस समय समीर में बसन्त छा रहा है।

लवंगिका—(चुप रहती है)

वासन्ती—तुम चुप हो। सखी सुनो मैं उसी प्रियतम की प्रतीक्षा में ये गीत गा रही थी।

केतकी—हाँ। वह दल-बल सहित आ रहे हैं।

मालती—वह दल-बल सहित आ रहे हैं ?

वासन्ती—हाँ, वह दल-बल सहित आ रहे हैं। देख नहीं रही हो मैं आज कितनी सुन्दर हूँ ?

मालती—किन्तु तुम्हारे सुन्दर होने से और उनके दल-बल सहित आने से क्या सम्बन्ध है ?

केतकी—सम्बन्ध क्यों नहीं है ? वासन्ती वसन्त की पत्नी है न ! अच्छा उनके साथ और कौन होगा ?

वासन्ती—उनके साथ कौन होगा, यह मैं नहीं जानती। वे सेनापति हैं न ! इन सबके राजा हैं महाराजाधिराज कामदेव। वसन्त उनके सेनापति हैं।

मालती—कामदेव, अरे बाप रे ?

वासन्ती—उनकी महारानी रतिदेवी।

केतकी—उनकी महारानी रतिदेवी ? नया, सब-कुछ नया देखने को मिलेगा।

मालती—हम क्या जानें, हमारी उम्र ही कितनी है। देखिये क्या-क्या होता है। मेरा हृदय भी प्रसन्नता के मारे उमड़ा पड़ता है।

केतकी—मेरा भी।

लवंगिका—मेरा भी। लो वे आ गये। वे आ गये। ये आगे कौन-कौन हैं ?

वासन्ती—तुम नहीं जानतीं ? ये ही तो हैं न।

मालती—समझी, ये वसन्त हैं। सुना है। और उनके पीछे ?

वासन्ती—महाराज कामदेव।

मालती—ओः इतने सुन्दर ! ऐसा सुन्दर तो कभी देखा न था। और ये उनके पीछे ? अरे सब-कुछ बदलता जा रहा है। अरे ये

वासन्ती—रति, महारानी रति ये ही हैं।

सब—जी चाहता है देखती रहूँ।

लवंगिका—मेरे मन में न जाने क्या हो रहा है ?

केतकी—मुझे तो मीठा-मीठा दर्द का अनुभव हो रहा है।

मालती—और मुझे तो चक्कर आ रहा है।

लवंगिका—मैं तो भाई, झूम उठना चाहती हूँ।

मालती—मेरा जी करता है, मैं तुम्हारा मुख चूम लूँ।

केतकी—ग़लत है, क्या मेरे दर्द की कोई औषध नहीं है ?

लवंगिका—लो भौंरों के झुण्ड उड़ने लगे।

मालती—लो, पवन मेरा पल्ला चूम रहा है। न जाने इसको क्या हो गया है, बोलती ही जाती है ?

लवंगिका—और ये मोर पागल होकर दौड़ने लगे हैं। चिड़ियाँ फुदक रही हैं।

मालती—चिरोटे अपनी चोंच रगड़ रहे हैं, मानो युद्ध करने के लिए अपने को तैयार कर रहे हों।

वासन्ती—जाने दो। इन कामदेव रति को देखें।

लवंगिका—मुझे तो कामदेव सुन्दर दिखाई देते हैं।

मालती—मुझे रति।

केतकी—मैं तो वासन्ती देवी पर मरती हूँ।

वासन्ती—सुनो, सुनो।

तीनों—क्या सुनें, न जाने क्या हो रहा है। सुध-बुध भूली जा रही है। (कामदेव, यौवन और बसन्त का प्रवेश)

कामदेव—प्रकृति और पुरुष दोनों ही से मुझे स्फूर्ति मिलती है बसन्त ! विधाता का कार्य है सृष्टि का निर्माण करना। मैं उनका सकल्प। उस संकल्प को ही ससार कामदेव कहकर पुकारता है यौवन !

यौवन—समझा तुम्हारा निवास फूल, पत्ते, लता, वृक्ष, आकाश, तारे, सूर्य, चन्द्रमा, झरने, नदी, सभी में हैं। उन्हीं से नर-नारी अनुप्राणित होकर जीवन पाते हैं। तब वे तुम्हारी उपासना करते हैं।

बसन्त—जहाँ सौन्दर्य है, जहाँ रस है, जहाँ सुख है, जहाँ रस, सुख, आनन्द की निष्पत्ति है, वहीं मैं रहता हूँ, वहाँ यौवन रहता है, जहाँ यौवन रहता है वहाँ आप रहते हैं महाराज !

कामदेव—मैं यौवन को ऊर्जस्वित करता हूं। यौवन ही सृष्टि का कारण है। मैं सृष्टि । अन्तर केवल इतना है कि यौवन बूढ़ा हो जाता है, वसन्त ग्रीष्म बन जाता है। शरद हेमन्त-शिशिर बन जाता है, किन्तु मैं अमर हूं। मैं देवता हूं। देवता को न बचपन, न यौवन, न बुढ़ापा कुछ भी नहीं सताता। मैं सदा युवा हूँ। यौवन मेरा संकल्प है, मैं यौवन में उत्पन्न होता हूँ। मैं सृष्टि हूँ, सौन्दर्य हूँ। मैं सत्य हूँ, मैं शिव हूं।

रति—मैं केतकी, चम्पा, मालती, कमलिनी की रानी हूँ। गुलाब मेरा सहचर है।

मालती—रानी! क्या आप हमारी रानी हैं।

केतकी—हम सब रस हैं, रस ही सृष्टि है।

रति—मैं तुम्हारे सौन्दर्य-रस का पान करके जी उठती हूँ। मेरा नाम रति है, मेरा एक पुरुष वाचक नाम भी है, प्रेम।

वासन्ती—जीवन प्रेम है। आओ हम प्रेम के गीत गायें। आज ज्ञात हुआ, कामदेव की पत्नी रति हमारा शृंगार है।

रति—मैं वसन्त को पाकर फूल उठती हूँ।

वासन्ती—तुम मुझे क्यों भूल जाती हो? मैं वसन्त की सहचरी हूँ। आओ गायें ...

आज प्रेम का गान करें,
आज प्रणय का दान करें।
हम वसन्त से जीवित होकर सृष्टि प्राण बन जाते हैं;
हम सुख का सौरभ मस्ती का नया स्वर्ग बिखराते हैं,
रोम-रोम के गीत सुनहले फूल बने मुसकाते हैं,
और धरा पर आसमान का जीवन रस बरसाते हैं,
प्रेम-पुष्प खिलता है जग में, प्रेमी का सम्मान करें,
(यह वसन्त का स्वागत है।)

कामदेव—वसन्त, तुम्हीं सचमुच मेरे सेनापति हो।

वसन्त—महाराज, यह आपकी महत्ता है। आप महान हैं जो तुच्छ दास को इतनी महत्ता दे रहे हैं।

कामदेव—मैं एक बात सोचता हूँ सेनापति! क्या मैं कामदेव इतना गर्हित हूँ जो प्रेमीजन के अतिरिक्त और लोग मुझसे घृणा करें। मैं तो आदिमूल हूँ न!

वसन्त—आप यथार्थ कहते हैं प्रभो! जब से भगवान् शङ्कर ने आपको अनंग बनाया है, तबसे आप घट-घट व्यापी हो गये हैं। इस संसार में न आपके बिना कोई काम चल सकता है, न स्थिर रह सकता है। मनुष्य-मात्र को चार वस्तुएं चाहिए—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। आप धर्म, अर्थ इन दोनों के ऊपर हैं। जो आपको वस्तुत समझ लेता है उसे केवल एक वस्तु की आवश्यकता रहती है, वह है मोक्ष।

रति—मेरा विश्वास है कि हमको ठीक-ठीक न समझने के कारण ही संसार का नाश हो रहा है।

कामदेव—लोग मेरे साथ मेरे मित्र यौवन को बुरा समझते हैं। तुम क्या कहते हो यौवन?

यौवन—तुम मेरे प्राण हो काम! जहाँ मैं रहता हूँ, वहाँ तुम्हारा रहना आवश्यक है।

रति—और जहाँ मेरे प्राणनाथ हैं वहाँ मैं रहती हूँ।

वसन्त—यों कहना चाहिए, जहाँ मैं हूँ वहाँ महाराज यौवन के साथ रहते हैं। महारानी भी वहीं।

यौवन—नहीं, जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ मेरा मित्र कामदेव रहता है। वहीं रतिदेवी भी।

कामदेव—किन्तु मेरे प्रश्न का तो कोई समाधान नहीं हुआ। क्या मैं गर्ह्य हूँ?

यौवन—इस ससार में जितने बड़े काम हुए हैं, मैंने किये हैं तुम्हारी सहायता से, क्योंकि तुम्हारा दूसरा नाम है इच्छा, संकल्प। ससार में कोई महान् कार्य करने के लिए संकल्प की आवश्यकता होती है।

कामदेव—तुम ठीक कहते हो यौवन!

रति—यदि मैं न होऊँ तो ससार का नाश हो जाय। मैं माँ और बेटे में प्यार, वात्सल्य और प्रेम बनकर रहती हूँ। स्त्री-पुरुषों में रति-प्रेम, बूढ़ों मे सद्भावना, आदर, भक्ति, श्रद्धा बनकर रहती हूँ। पिता पुत्र से, स्त्री पति से, भक्त भगवान् से, समाज समाज से और देश देश से लड़ते हैं। संसार का नाश होता है, वह केवल तुम्हारे प्रताप से नाथ!

यौवन—ये बड़े-बड़े महल, तार, जहाज, रेल, रेडियो सब मैंने बनाये हैं। मैंने ही पाताल भेदकर, आकाश में उड़कर, सारी पृथ्वी को छानकर मनुष्य को वे वस्तुएं दी हैं जो और कोई नहीं दे सका। मैंने रामचन्द्र बनकर रावण को मारा। मैंने कृष्ण बनकर कंस का संहार किया। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद बनकर ससार में सुख एव शान्ति की स्थापना की। यह केवल तुम्हारे बल पर ही। क्योंकि तुम ही तो मेरी इच्छा हो। कामदेव, तुम धन्य हो मित्र!

कामदेव—फिर ये बूढ़े लोग मेरी निन्दा क्यों करते हैं?

यौवन—इसलिए कि इन्होंने तुम्हारा और मेरा दुरुपयोग किया है। तुम्हें और मुझे ठीक-ठीक न समझ कर नाली में, कूड़े में, अपात्र में, हमारे शत्रु अहंकार के बहकावे में आकर युद्ध में, फूट मे, कलह में, हमको और तुमको फेंक दिया है।

कामदेव—मैं जानता हूँ, जहाँ मैं नहीं रहता वहाँ की सृष्टि निकम्मी, धीमी, नपुंसक हो जाती है। युद्ध मेरे दुरुपयोग का फल है, शान्ति मेरे हास में चमकती है, विवेक मेरा अट्टहास है।

यौवन—भीष्म ने तुमको पाकर संसार पर विजय प्राप्त की। शंकर ने समूचे भारत मे धर्म का उद्धार किया। लोगों को विवेकी, ज्ञानी, कर्त्तव्यशील बनाया। स्वामी दयानन्द ने विचारों में एक नया दृष्टिकोण दिया। और गांधी ने तुम्हारा वास्तविक रूप पहचान कर संसार को नई कल्पना, नई शक्ति, नया बल दिया।

वसन्त—कवि कहता है प्रकृति में सुख है। वैज्ञानिक कहता है प्रकृति में अजय-शक्ति है। मैं प्रकृति हूँ। प्रकृति की मुसकान हूँ। मेरी मुसकान वासन्ती है। मैं तुम्हारा उपासक हूँ महाराज। मैं प्रकृति का यौवन हूँ।

वासन्ती—मैं सखी केतकी, मालती, लवंगिका का सहारा पाकर हँसती हूँ। और तुम्हें हँसाती हूँ प्रियतम। मै रति, कामदेव, यौवन और बसन्त की सखी हूँ।

यौवन—तुम सब मुझे चाहते हो और मेरे द्वारा प्रिय मित्र काम-देव को। बसन्त, ससार के जीवन में बसन्त बनो। उनकी मुसकान वासन्ती की शोभा हो। तुम मेरा शृंगार करो।

बसन्त—यौवन का शृंगार कामदेव का शृंगार है।

(सौंदर्य का प्रवेश)

सौन्दर्य—कामदेव का शृंगार शिव और सौन्दर्य का शृंगार है।

कामदेव—तुम आ गये सौन्दर्य!

सौन्दर्य—जहाँ आप रहते हैं वहाँ मैं क्यों न रहूँ। मै आपका एक सैनिक हूँ महाराज। मेरी रक्षा आपसे है। जहाँ ससार काम का सम्मान करता है वहाँ मैं जीवित रहता हूँ। जैसे सन्ध्या के आने पर सूर्य आप छिप जाता है इसी प्रकार मैं भी हूँ। काम का नाश होने पर मेरा भी नाश हो जाता है। जहाँ तुम हो वहाँ मैं ही नहीं, शिव भी हैं।

कामदेव—तो यों कहना होगा, जहाँ केतकी है, मालती है, लवगिका है—

वासन्ती—वहाँ वासन्ती है। और जहाँ वासन्ती है—

वसन्त—वहाँ वसन्त है।

यौवन—वहां काम है।

रति—वहां रति है।

सौन्दर्य—वहाँ सौन्दर्य है।

शिव—वहाँ शिव है सत्य है।

कामदेव—क्या कहा यौवन ?

यौवन—नहीं-नहीं मुझसे और आपसे आगे न संसार है न और कुछ। हम ही लोक की कल्पना हैं, कवियों की तीव्र अनुभूति के निश्वास हैं, जो उनके छन्दों में बँधकर निकलते हैं। मुझसे आगे बढ़कर न संसार है न उसका अस्तित्व ही है।

वसन्त—उससे आगे जरा है निष्क्रिय चेतना। बुढ़ापा सदा पीछे की ओर देखता है अपने समय को, यौवन की उद्दाम प्राण-राशि में सुप्त स्वप्न के संसार को याद करके रोता है। वसन्त के पश्चात् आने वाली ग्रीष्म ऋतु में मुरझाया फूल चरमराते पत्तों में गिरकर कली के विकास को समीर के सुन्दर स्पर्श को, भ्रमर की गूँज को स्मरण करके रोता है। उस मलिन पुष्प का क्या जीवन है ?

वासन्ती—एक रुदन, चिर रुदन, जिसके उपाय शेष जीवन के अभिशापों में पीड़ित होकर केवल सुबकियाँ भरते है।

रति—जिसमें केवल रति है स्मृति की, विलास है विवशता का।

सौन्दर्य—सौन्दर्य है केवल अर्ध-सुप्त निष्प्राण चेतना का। क्या सोच रहे हैं आप ?

कामदेव—सोच रहा हूँ, क्या। ही हूँ इस सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माड में। सोच रहा हूँ, क्या यौवन और काम के बाद और कुछ शेष नहीं है। क्या रति, मेरी प्राणप्रिया रति के बाद, जिसके हृदय में मेरा सदा निवास है, उस रति में ही हमारी समाप्ति है। इसके बाद इसके पश्चात् क्या है, यौवन ?

यौवन—इसके पश्चात् कुछ नहीं महाराज। इसके पश्चात् जो कुछ है वह जीवन नही है मृत्यु है !

कामदेव—और मोक्ष।

यौवन—मोक्ष कुछ भी नही है। जहाँ मनुष्य की इच्छाएं जाकर समाप्त हो जाती हैं, वहाँ उसकी जड़ता ही मोक्ष है। इच्छा का अभाव मोक्ष है।

वसन्त—वसन्त के पश्चात् जैसे कुछ भी नहीं है वैसे ही आपके बाद भी धर्म, अर्थ, काम के बाद मोक्ष एक छलना है, मृग-मरीचिका है।

कामदेव—सत्य है, मैं इसके आगे कुछ नहीं सोच सकता।

(एकाएक गर्म हवा चलने लगती है। पत्ते, कली, पुष्प मुरझाने लगते है। लवगिका, केतकी मालती जो अब तक मधु के भार से झूम रही थी, चुपचाप गर्मी के झोके से झुलसने लगती है। वासन्ती को जैसे कोई बलात् उठा ले गया हो। उसकी चीखती हुई आवाज़ सुनाई देने लगती है, फूल मुरझा कर गिरने लगते है, पत्ते निष्प्राण भूमि पर गिर कर मर्मर-ध्वनि करने लगते है। गरम पवन से खड-खड की आवाज़ होने लगती है। कुछ समय तक यही अवस्था रहनी है। वसन्त भी वासन्ती के साथ हवा के झोको में बह जाता है। हवा साय-साय चलती रहती है। कभी-कभी उसका वेग बढ जाता है)

कामदेव—यौवन, देखा तुमने यह क्या हो रहा है ?

रति—नाथ, प्रलय के चिह्न दिखलाई दे रहे हैं।

यौवन—मैं भी कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ। जैसे मेरे विचार ढह रहे हों।

कामदेव—हमारा सेनापति कहाँ गया ?

रति—वह न जाने कहाँ उड़ गया। वसन्त और वासन्ती का कहीं भी पता नहीं है। कितना अस्थिर है यह सब-कुछ। उस वसन्त का, जो अब तक अपने को, आपको और मुझे सदा ही प्रमुख मानता रहा है, इस समय कहीं भी पता नहीं लग रहा है नाथ।

यौवन—मुझे पकड़िये, मुझे सहारा दीजिये, न जाने कौन मुझे ढकेल कर आगे लिये जा रहा है। मेरे पैर उखड़ रहे हैं। रोको मित्र, मैं तुम्हारा हूँ। रति मुझे रोको। मैं जा रहा हूँ। रोको।

(यौवन की आवाज़ धीमी होती जाती है। धीरे-धीरे वह लुप्त हो जाता है।)

कामदेव—सब एक-दम चले गए। कौन ले गया इन्हें ?

रति—न जाने कौन घसीट कर ले गया। सब सुनसान हो गया है। मेरा गला सूखा जा रहा है। मुझे प्यास लग रही है। मुझसे खड़ा नहीं रहा जाता। यह क्यों है ? क्या हो रहा है नाथ, (चिपट जाती है) नाथ!

कामदेव—ठहरो, साहस करो देवि! तुम्हें कोई नहीं ले जा सकता रति, तुम घबराओ मत। मैं हूँ।

रति—नहीं, नहीं, मैं अब जीवित नहीं रहूँगी। न जाने कैसा हो रहा है। मेरा गला जैसे किसी ने घोंट दिया है। मेरी रक्षा करो।

(पत्तों की खड़-खड़ तेज होने लगती है। जैसे उसमें से कोई एक मूर्ति उठ रही है। सर्वथा श्वेत केश, झुर्रियों से भरा शरीर, लकड़ी टेके झुके शरीर का एक व्यक्ति धीरे-धीरे आता है। रति उसे देखकर चिल्लाने लगती है। चिल्लाती हुई अमज्ञ हो जाती है। कामदेव डर-कर पीछे हटने लगता है।)

कामदेव—तुम, तुम, (पीछे हटता हुआ) तुम कौन हो ? यहाँ क्या करने आये हो ? दूर हो, दूर हो। तुमने मेरी पत्नी को, रति को बेहोश कर दिया। तुम्हें देखकर वह डर गई है। बेहोश हो गई है। मुझे भी तुम्हें देखकर डर लगने लगा है, कृपा करके तुम चले जाओ।

बुढ़ापा—मैं बु''' 'ढा ''पा हूँ। बु ढा' पा (हाफता है)। तुम'' डरो ' 'मत' मैं' 'निरबल 'हूँ। (हा हा हा हा)

(खि 'खि 'खि' 'कर के हसता है। हसता ही रहता है उसके हसने से वातावरण और भी भयकर हो उठता। है)

कामदेव—तुम बुढ़ापा हो। मेरा मित्र यौवन 'ओ तुम भयंकर डरावने, दूर हो।

बुढ़ापा—मैं'''मैं ' ही '' ' यौवन '' ''क भी ' मैं ही यौवन था। हा 'य'' तुम ' ' डरो ' मत । न जाने'''मुझे क्या हो '' गया' 'मित्र'''ठह ' रो मु '''झे ''साँ स'''ले ''ने 'दो । (हाफता है फिर प्रकृतिस्थ होकर) हाँ अब कहो।

कामदेव—हैं, यह क्या, रति पीली पड गई है ! मेरा आकार बदलता जा रहा है। यह क्या हो रहा है मुझे। यह सब-कुछ क्या है। यौवन, क्या सचमुच तुम्हारी यह अवस्था हो गई है ?

(यौवन का प्रवेश,)

यौवन—नहीं-नहीं, यह झूठ बोलता है। यौवन मैं हूँ मित्र !

बुढ़ापा—नहीं-नहीं, यौवन मैं था कभी !

यौवन—झूठ बात है। मै कभी नहीं मरता। ग्रीष्म जब मुझे भगाकर ले जा रहा था, तो मैंने देखा एक बालक के शरीर से बचपन निकलकर भाग रहा था, मै चुपचाप उसमें जा घुसा। यहाँ से तुम्हे यहाँ देखकर आ गया हूँ। तू यहाँ कैसे ?

बुढापा—हाँ, मैं कभी यौवन था, किन्तु उस समय मैं यौवन था, बुढ़ापा नहीं।

कामदेव—देखो यौवन, ज़रा मेरी प्रियतमा के शरीर पर हाथ फेरो, देखो तो कितनी पीली पड़ गई है यह!

(यौवन कामदेव दोनो मिलकर रति को उठाते है, वह उठ बैठती है। बुढापा दूर खड़ा देखता है। तीनो एक दूसरे को देखकर हसते है।)

तीनो—हा हा हा...हा कितना आनन्द है। बसन्त, वासन्ती, अरे तुम दोनों कहाँ गये?

(तेज़ हवा के झोको से वसन्त, वासन्ती की आवाज़े आती है। हम यहा है।)

दोनो—लौटकर आवेंगे, प्रतीक्षा करो, प्रतीक्षा करो।

कामदेव—सुना तुमने, ग्रीष्म ऋतु मे वे दोनों उड गये हैं। यह सब क्या हो गया?

रति—न जाने। नई-नई बातें दिखाई दे रही हैं।

बुढ़ापा—इस संसार का अन्त मुझमें है। तुम प्रारम्भ हो कामदेव।

कामदेव—इस संसार का अन्त तुममें है। यह तुम क्या कह रहे हो?

यौवन—बिलकुल झूठ है। तुम मृत्यु की भूमिका हो। निर्जीव, निकम्मे प्राणी।

कामदेव—मैं ही तो सृष्टि का विलास हूँ, और तुम कहते हो तुम हो। सत्य क्या है यौवन?

यौवन—सत्य यह है कि मैं मर कर भी नहीं मरता।

बुढापा—मैं भी कहाँ मरता हूँ? व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् भी मैं जीवित रहता हूँ। मैं संसार की विचार-शक्ति बनकर यौवन को कार्य-सम्पन्न करने की प्रेरणा करता हूँ। मैं जीवन का दर्शन हूँ। मैं क्रिया को विवेक देता हूँ। मैं शक्ति हूँ। मैं भी नहीं मरता। मैं यौवन

के खाली किये मकानों पर कब्जा कर लेता हूँ। मैं सबल भी हूँ। यौवन मुझे देखकर भाग जाता है।

कामदेव—तुम निष्प्राण हो।

यौवन—तुम क्रियाहीन चिन्तन हो, तुम्हारा विलास है आलस्य, निष्क्रियता, तन्द्रा, रोग।

बुढापा—किन्तु मैं विवेक हूँ। मैं यौवन की भूल को सुधारता हूँ। मैं वह नौका हूँ जो मँझधार में बहते हुए, डूबते मनुष्य को पार लगाता हूं। यौवन यदि सैनिक के समान है जो युद्ध करता है, तो मैं सेनानायक हूँ जो उन्हे विनाश से बचाता है। जीवन क्रिया, प्रेम तथा चिन्तन से पूर्ण होता है। मैं न होता तो संसार-यात्री प्रेम के सागर में डूब जाता या फिर आपसी कलह में नष्ट हो जाता। मेरे पास शान्ति रहती है, विवेक रहता है। तुम भूलते हो, बाल्यावस्था चेतना की विकासावस्था है, जागृति है। यौवन जीवन की क्रिया है, उमग है, अदम्य है, वह शक्ति है और मैं उसका पूरक हूँ कामदेव!

कामदेव—ठीक है। मैं सब कुछ समझ रहा हूं। व्यक्ति अस्थिर है, नश्वर है, किन्तु उसका क्रम स्थायी है। मनुष्य नष्ट होता है, किन्तु मनुष्य जाति जीवित रहती है।

यौवन—इसी तरह मैं समय पाकर एक व्यक्ति में जाग्रत होता हूं। जब वह जीर्ण हो जाता है अथवा मेरा भार सँभालने की उसकी क्षमता मेरे अपव्यय, मेरी उपेक्षा से नष्ट हो जाती है तब मैं उस कलेवर को छोड देता हूँ। लोग मुझसे डरते हैं। निर्बल मुझे देखकर काँप उठते हैं।

कामदेव—मैं सृष्टि का मूल कारण हूं यौवन, मैं चाहता हूं मैं सृष्टि को वास्तविक सुखी बनाऊँ। मैं जीवन की उपयोगिता बनकर उनमें जीवन के प्रति अनुराग की भावना भरूं। मेरे द्वारा विवेक का विकास

हो। दुर्बुद्धि, वासना, लालसा, हिंसा, प्रतिहिंसा जो मुझसे ही उत्पन्न होती है, मनुष्य-समाज में स्थान न पा सके।

रति—मैं चाहती हूँ मेरा यथार्थ रूप समाज में जाग्रत हो। मैं अपने विभिन्न रूपों द्वारा समाज को श्रेष्ठतर बनाऊँ। मेरे भीतर एक मर्यादा हो। लोग मेरा वास्तविक रूप समझें। वैसे मैं स्त्री बनकर पुरुष को अपनी ओर आकृष्ट करती हूँ। ऐसे ही वास्तविक प्रेम बनकर मातृत्व को पूर्ण करूँ। स्नेह बनकर भाई बहन में, गुरुजन, परिजनों में भक्ति बनकर रहूँ।

यौवन—मैं स्वय यही चाहता हूँ। शीत की भयंकरता, ग्रीष्म की तीव्रता, वर्षा की अत्यधिकता, वसन्त की उन्मादकता की तरह मैं मनुष्य को मध्यमावस्था में रखता हूँ। नि सन्देह मैं जीवन हूँ, किन्तु यदि जैसा तुम कहते हो, वैसे रूप में मैं तुम्हे प्राप्त करूँ तो मैं यौवन की सृष्टि को सुख से आप्यायित कर दूँ। मैं चाहता हूँ मेरी मित्रता विवेक से हो। विभिन्न रूपा रति से हो, मर्यादा से हो, तभी मैं ससार को सुखी कर सकता हूँ। मैं युद्ध करता हूँ, एक को पराजित करके दूसरे को विजित बनाता हूँ। किन्तु खेद है विवेक मुझसे सदा नाराज रहता है। सच तो यह है मैंने उसकी परवाह भी नहीं की। मैं विवेक से प्रार्थना करूँगा कि वह मेरे साथ रहे।

सौन्दर्य—तभी मेरी भी सार्थकता है मित्र! मैं तुम्हारे साथ रहता हू, किन्तु तुम ही मेरा सदुपयोग नहीं होने देते। मुझे जल्दी ही खोया हो जाना पड़ता है। मेरे द्वारा ही कामदेव की स्थिति है। यौवन का मैं सुलभ सहचर हूँ। रति मेरी उपासिका है। यदि तुम सब ठीक रहो तो मैं कला, कविता, विलासिता और अनन्त सुख की सृष्टि कर सकता हूँ। मेरी एक मुस्कराहट से ब्रह्मा के हृदय में कँपकँपी उठ जाती है, किन्तु वे मेरे पिता होने के नाते मेरी प्रशसा ही करते हैं। मित्र यौवन की तरह मुझे झँझोड नहीं डालते।

सब—आओ हम लोग विवेक की उपासना करें। वही हमारा नियन्ता है। उसके बिना—

कामदेव—मैं वास्तविक कामदेव नहीं हूँ।

रति—मैं यथार्थ रति नहीं हूँ।

यौवन—मैं श्रेष्ठ जीवन नहीं हूँ।

सौन्दर्य—मेरा रूप सुरक्षित नहीं है।

बुढ़ापा—किन्तु वह तो मेरा भाई है।

सब—तो वह हमारा भी तो हो सकता है।

(विवेक का प्रवेश)

विवेक—किन्तु मैं कठोर हूँ।

कामदेव—मैं तुम्हें स्निग्ध बना लूँगा।

विवेक—मैं रूक्ष हूँ।

रति—मैं मसृण कर दूँगी।

विवेक—मैं सत्य हूँ।

यौवन—तुम मेरी आँखें खोल दो। मैं तुम्हें महान् बना दूँगा।

विवेक—और सौन्दर्य, क्या तुम्हें भी मेरी आवश्यकता है?

सौन्दर्य—अवश्य, तुम मेरे साथ होगे तो मेरा दुरुपयोग न होगा। मैं चिरस्थायी बनकर सृष्टि को सुखी कर सकूँगा।

विवेक—मैं चाहता हूँ, हम सब मिलकर युद्ध से पीड़ित वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों से जर्जरित, स्वार्थ से बहकी हुई, हिंसा से धूमरित, क्रोध से जलती हुई सृष्टि को जीवन देकर सुख प्रदान करेंगे। मनुष्यता की रक्षा करेंगे। मनुष्यता का यह रूप देखकर सृष्टि के विधाता काँप रहे हैं। प्रकृति विक्षुब्ध होती है। भगवान् शंकर की समाधि विचलित हो गई है। आज हमें अपने को बदलना होगा।

कामदेव—मुझे भी यही दिखाई दे रहा है कि सम्पूर्ण प्रकृति चिन्तामग्न है।

रति—मनु के जल-प्लावन का युग स्मरण हो रहा है, जब सारी सृष्टि मग्न हो गई थी।

यौवन—हमारा अस्तित्व मनुष्य जाति से है। इसकी रक्षा होनी आवश्यक है।

विवेक—हमारा एक ही ध्येय होना चाहिए।

मनुष्य सृष्टि की रक्षा
मनुष्य सृष्टि का सुख
'मानवता, मानवता!'



वापसी

पात्र

दीनानाथ	·	रायसाहब का भाइ
अबिका		रायसाहब का सम्बन्धी
कृपानाथ	··	रायसाहब का साला
सिद्धेश्वर		पडौसी
वंशीधर	·	दीनानाथ का साला
सरोजिनी	··	रायसाहब की साली
चंद्रिका	··	रायसाहब की लडकी
भागीरथी	··	अंबिका की स्त्री

वापसी

रायसाहब रामप्रसन्न लगभग पैंतीस वर्ष तक रंगून में कमिश्नर के दफ्तर में हेड क्लर्क रहे। रहने वाले वैसे युक्त प्रांत के हैं। बचपन में बर्मा चले गये थे। वहाँ नौकरी करते उन्होंने रायसाहब का ख़िताब तथा धन कमाया। दो मकान भी ख़रीद लिये। बर्मा में ही उनकी पहली पत्नी का देहांत हो गया। इसके बाद उन्होंने अपनी बड़ी साली को, जो विधवा थी और अपने छोटे भाई के साथ गरीबी में गुज़र-बसर कर रही थी, अपने पास बुला लिया। यह नहीं कहा जा सकता कि उन दोनों का कैसा सम्बन्ध रहा, पर इतना निश्चित है कि वह घर की स्वामिनी बन गई तथा रामप्रसन्न की छोटी लड़की का पालन-पोषण करने लगी। जब रायसाहब रिटायर हुए तो उनकी इच्छा देश जाने की हुई। निदान रायसाहब बहुत-सा धन लेकर देश लौट आए। घर उनका कोई था नहीं, इसलिए वह अपने एक सम्बन्धी के यहाँ ठहरे। दिन-रात शराब में मस्त रहने के कारण उनका स्वास्थ्य गिर गया। नाटक में उसी समय का दृश्य है।

[एक सजा हुआ कमरा। पूर्व पश्चिम की ओर दो कमरे। दक्षिण की ओर दो अलमारियाँ। पूर्व की तरफ अलमारी के पास पलंग पर रायसाहब पड़े हैं। उस अलमारी में कैशबॉक्स, शराब की बोतलें और दवा की शीशियाँ रखी हैं। नीचे फर्श पर दो बड़े सन्दूक

रखे है। पलग के पास दो कुरसिया, वाकी भाग में एक बड़ी दरी और उस पर कालीन बिछा हुआ है। दूसरी तरफ अलमारी में कुछ किताबे है। शाम का समय है। कमरे में अस्तगत सूर्य का धुधला प्रकाश आ रहा है। पास के मकान से गाने की आवाज आ रही है। रायसाहब बेहोश पड़े दिखाई देते हैं—आखे वद, शरीर निश्चेष्ट। सास चल रही है। चद्रिका पिता के पैरो की तरफ बैठी है, सरोजिनी धीरे-धीरें आती है।]

चद्रिका—(सरोजिनी से) अम्मा, बापू कैसे पडे है ? देखो तो। चार-पाँच घंटे हो गए।

सरोजिनी—(घबराहट से) न जाने इन्हे क्या हो गया, बेटी ? (मुंह मे पानी डालती है)

चद्रिका—(सरोजिनी से चिपटकर) बापू को क्या हो रहा है, अम्मा ?

सरोजिनी—हमारा भाग्य फूट रहा है, बेटी, और क्या। (फिर रायसाहब की खाट के पास खडी हो जाती है)

[पश्चिम के कमरे मे भागीरथी आती है और फर्श पर बैठती है]

भागीरथी—कैसी तबियत है इनकी ?

सरोजिनी—वैसी ही है। कोई सुधार तो होता दिखाई नहीं देता। मैं ही अभागिन हूँ, भागीरथी। नही तो क्यो इन्हे कष्ट होता ? अभी उमर ही क्या है ?

भागीरथी—शराब ने चूस डाला। तुमने मना नहीं किया शराब पीने को ?

सरोजिनी—किया क्यो नही ? कई बार तो मना किया, समझाया, पैरों पड़ी, मिन्नत-खुशामद की, पर कोई माने तब न ? जो लत एक बार लग जाती है वह छूटती थोडे ही है ? मियों ने बर्मा मे पिला-पिला

का उन्हें बीमार भी डाल दिया। रुपया इनका खर्च होता था, पीते सब थे।

भागीरथी—और अब तक पीते हैं। हर समय आंखें लाल रहती हैं। मैंने तो समझा शायद इनकी आंखें ऐसी ही हों। पर एक दिन बोतल खोलकर पीते देखा, तब समझ में आया ये शराब पीते हैं।

चन्द्रिका—एक-दो बार तो अम्मा ने भी पी थी।

सरोजिनी—दुर, पगली, झूठा नाम लगाती है? तूने कब देखा री? (आंखें ऐसे तरेरती है जैसे खा ही जायगी)

चन्द्रिका—(डरकर) मैं कब कहती हूँ? शायद पी होगी, मैं यही तो कह रही हूं।

सरोजिनी—नहीं, मैंने नहीं पी। भला तुम्हीं सोचो, क्या मैं ऐसा काम कर सकती हूं?

भागीरथी—(बात बदलकर) और दवा के तौर पर एकाध बार पी भी ली हो तो क्या बुराई है? बर्मा में तो कोई परहेज नहीं है। वहां क्या हिन्दू नहीं रहते?

सरोजिनी—बर्मी लोग किसी बात का परहेज़ नहीं करते—खाने-पीने का भी नहीं और जात-पात का तो कोई झगड़ा ही नहीं है। वे लोग तो बौद्ध हैं, कुछ मुसलमान हैं। हिन्दू तो बहुत कम हैं।

चंद्रिका—अम्मा, बापू को कोई दवा दो। आज तो तुमने डॉक्टर को भी नहीं बुलाया।

सरोजिनी—देश बड़ा सुन्दर है। औरतें ही सब काम करती हैं। दुकान, ऑफिस, सब जगह काम करती हैं।

भागीरथी—क्या दोनों मकान बेच दिए?

सरोजिनी—एक बेचा है। (जेब टटोलकर) चंदी, चाबी का गुच्छा कहाँ है?

(चंद्रिका चुप रहकर ध्यान से पिता की ओर देखती रहती है। सरोजिनी उठकर इधर-उधर चाबी ढूढती है)

भागीरथी—यहीं होगा। कोई आया भी तो नहीं है। जायगा कहाँ ? भला कौन-सा गुच्छा ?

सरोजिनी—(परेशान-सी) वह छोटे सन्दूकों का गुच्छा था। आज सवेरे कृपानाथ ने लिया था। उसने दिया नहीं होगा। अरे कृपा, कृपा ! (शराब के नशे में चूर कृपानाथ आता है) तूने फिर पी ली रे ?

कृपानाथ—(लडखडाता हुआ बहन के मुंह के पास आके गढ़ाकर। क या क या कहती हो ? ब् भ् लुऽऽ मैं क्यों पीता ? चुप। (भागीरथी उसे देखकर भयभीत हो जाती है।)

सरोजिनी—कुलच्छने, कोई देखेगा तो क्या कहेगा ? जीजा मरने को पड़ा है और तुझे शराब पीने की सूझी है ? यह भी न हुआ कि जाकर डॉक्टर को ही बुला लाता। देख तो हालत कैसी बिगड रही है।

कृपानाथ—(भरी हुई आखो से चद्रिका के पास जाकर) तेरा यह कौन है ? बोल। (उसकी आखो मे उगली देता हुआ) बोल, बोलेगी कि नहीं ?

चद्रिका—अम्मा, देख तो मामा क्या कर रहे हैं।

सरोजिनी—कृपा, तू कितना मूर्ख है ! क्या सब हया-शरम भी बेच दी है ?

भागीरथी—ऐसा भी क्या, जीजा जो मरने को पड़ा है और इसे शराब की सूझी है।

(सरोजिनी कृपानाथ को घसीटकर पश्चिम की तरफ के कमरे में बद कर देती है। वह उस कमरे में ही बकने लगता है। भागीरथी चली जाती है। कृपानाथ को बकते देखकर सरोजिनी दरवाज़ा खोल देती है। वह फिर आ जाता है।)

सरोजिनी—(उसकी छाती पर दुहत्तड मारकर) तुझे इस समय शराब की सूझी है ? वह भागीरथी देख गई है। अभी दफ्तर-से अम्बिका आता होगा, देखेगा तो क्या कहेगा ? और सुन, वह चाबी का गुच्छा कहाँ है ?

(कृपानाथ शराब से बेसुध होकर वहीं फर्श पर लेट जाता है। सरोजिनी उसकी जेब टटोलती है, पर गुच्छा नहीं मिलता। ढूंढती रहती है। सरोजिनी दूसरे कमरे से दो शराब की बोतलें ला कर रायसाहब के पास की आलमारी में पीछे की तरफ रख देती है। इसी समय सिद्धेश्वर का प्रवेश)

सिद्धेश्वर—कैसी तबियत है रायसाहब की ?

सरोजिनी—(मुंह बनाकर) बिलकुल गुम-सुम हो गये हैं। सवेरे डॉक्टर को बुलाने कृपा को भेजा था, पर वह उस समय मिला नहीं।

सिद्धेश्वर—तो दुबारा भेजना चाहिए था। यह क्या, कृपानाथ को क्या हो गया ?

सरोजिनी—ऐसे ही तबियत ख़राब हो गई है, सो गया है।

सिद्धेश्वर—यह तो (ध्यान से देखकर) मालूम होता है जैसे शराब पिये हुए हो। ठहरिये, मैं डॉक्टर को लाता हूँ।

सरोजिनी—अब क्या होगा डॉक्टर को लाकर ? इनकी हालत तो अच्छी नहीं है। रात कट जाय तो गनीमत समझो। बत्तीस रुपये फीस लेगा। ख़ैर, फीस की तो कोई बात नहीं, पर अब तो अन्त समय है। (आंख में आंसू भरकर) मेरे तो भाग्य फूट गये। (जोर से सिर पर हाथ मारती है)

सिद्धेश्वर—जब तक साँस तब तक आस। डॉक्टर को तो अवश्य दिखाना चाहिए, बाक़ी जैसी आपकी इच्छा। मैं तैयार हूँ, हालाँकि मैं अभी बाहर से आ रहा हूँ। ख़ैर, (ध्यान से देखकर) डिलीरियम है।

सरोजिनी—प्राण अटक रहे हैं।

सिद्धेश्वर—इतने धनी आदमी थे। हो सके तो कुछ दान-पुण्य पूजा-पाठ करा दीजिए। इसमें कोई सन्देह नहीं, अवस्था ठीक नहीं है।

चंद्रिका—अम्मा दान-पुण्य करा दो। बापू की हालत खराब है।

सरोजिनी—क्या कहा जा सकता है? मुरदे भी जी उठते हैं। मैंने वैद्यजी का दिया हुआ रस पिलाया है। एक बार बीमारी में इसी से ठीक हुए थे।

सिद्धेश्वर—कौन-सा रस?

सरोजिनी—कई रस मिले हुए हैं। नाम तो याद नहीं। (निकालकर दिखाती है)।

सिद्धेश्वर—जैसी आपकी इच्छा। अवस्था तो सचमुच खराब है।

सरोजिनी—पण्डित कोई मिल जाय तो गीता सुना दे। क्या लेगा?

सिद्धेश्वर—यह तो मैं कह नहीं सकता। यत्न करके देखता हूँ, कोई मिल जाय तो। लेगा क्या, यही एक-दो रुपये। अच्छा लाइये, मैं ही गीता सुना देता हूँ। इस समय तो सेवा करनी ही चाहिए। एक बात है, इनको आप ज़मीन पर उतार दीजिए।

सरोजिनी—मैं अकेली कैसे उतारूँ? कृपा तो बेहोश है। अभी रहने दो।

सिद्धेश्वर—ठहरिए, मैं कपड़े बदल आऊँ। गीता भी लेता आऊँगा।

सरोजिनी—न हो, एक डॉक्टर को बुला दीजिये न।

सिद्धेश्वर—अच्छी बात है, लाता हूँ। (चला जाता है)

सरोजिनी—(अपने-आप) चाबी नहीं मिली। (चन्द्रिका से) चन्दो, तूने चाबी नहीं देखी?

चंद्रिका—मैं क्या जानूँ, अम्मा ? सवेरे से मैंने तो देखी नहीं है।

(अम्बिका, दीनानाथ और वंशीधर का प्रवेश)

अंबिका—कैसी तबियत है ? सवेरे तो ठीक थी। एकदम क्या हो गया ?

सरोजिनी—न मालूम। मैं तो तुम्हारे घर थी। आकर देखा तो बेहोश पड़े हैं। मैं तो घबरा गई हूँ भैया!

दीनानाथ—मुँह से लार बह रही है। आँखें बिलकुल बन्द हैं। मुझे तो अन्त दिखाई देता है। यह ठीक है मेरी इनके साथ कभी नहीं पटी, सदा हम दोनों अलग-अलग रहे, पर हम में प्रेम सदा से रहा। और मेरे पास मकान होता तो क्या इन्हें अम्बिका के यहाँ ठहरने देता ? अपने घर पर ही ठहराता। (चिल्लाकर) मुझे मालूम होता कि भाई इतनी जल्दी चले जायगे तो मैं अपने घर ही न ठहराता। हाय, कुछ दिन तो सेवा कर ही लेता। बेटी चन्दो, अब तेरा मेरे सिवा कौन है ? तू मेरी बेटी है। हाय, एकदम क्या हो गया ?

अंबिका—मामला ज़रा टेढ़ा होता जा रहा है। मुझे तो कुछ भी नहीं कहना। दूर के सही, पर आख़िर भाई तो मेरे भी थे। और जब वह मेरे घर आकर ठहरे तो मुझे अपना समझकर ही तो ठहरे।

दीनानाथ—सो तो है ही। तुम्हें और मुझे सदा अपना ही समझा। और समझते क्यों नहीं ? क्या हम लोग पराये थे ? अपने थे तभी तो बर्मा से रिटायर होकर यहाँ आए। भारतवर्ष में क्या और जगह नहीं हैं ? बड़े-बड़े शहर हैं, उनमें होटल हैं, धर्मशालाएं हैं। जब उन्हें हमारा यह नगर पसद था, हम लोग पसंद थे, तभी-तो यहाँ आये। कहते क्यों नहीं, अंबिका ?

अंबिका—सो तो है ही। पर मुझे तुमसे अधिक अपना निकट संबंधी समझा, तभी तो मेरे यहाँ ठहरे। यह ठीक है खाया उन्होंने अपना, पहना अपना, पर मकान तो मेरा था। और जगह क्यों नहीं ठहर गए ?

सरोजिनी—प्राण अटक रहे हैं।

सिद्धेश्वर—इतने धनी आदमी थे। हो सके तो कुछ दान-पुण्य पूजा-पाठ करा दीजिए। इसमें कोई सन्देह नहीं, अवस्था ठीक नहीं है।

चंद्रिका—अम्मा दान-पुण्य करा दो। बापू की हालत खराब है।

सरोजिनी—क्या कहा जा सकता है ? मुरदे भी जी उठते हैं। मैंने वैद्यजी का दिया हुआ रस पिलाया है। एक बार बीमारी में इसी से ठीक हुए थे।

सिद्धेश्वर—कौन-सा रस ?

सरोजिनी—कई रस मिले हुए हैं। नाम तो याद नहीं। (निकालकर दिखाती है)।

सिद्धेश्वर—जैसी आपकी इच्छा। अवस्था तो सचमुच खराब है।

सरोजिनी—पण्डित कोई मिल जाय तो गीता सुना दे। क्या लेगा ?

सिद्धेश्वर—यह तो मैं कह नहीं सकता। यत्न करके देखता हूँ, कोई मिल जाय तो। लेगा क्या, यही एक-दो रुपये। अच्छा लाइये, मैं ही गीता सुना देता हूँ। इस समय तो सेवा करनी ही चाहिए। एक बात है, इनको आप ज़मीन पर उतार दीजिए।

सरोजिनी—मैं अकेली कैसे उतारूँ ? कृपा तो बेहोश है। अभी रहने दो।

सिद्धेश्वर—ठहरिए, मैं कपड़े बदल आऊँ। गीता भी लेता आऊँगा।

सरोजिनी—न हो, एक डॉक्टर को बुला दीजिये न।

सिद्धेश्वर—अच्छी बात है, लाता हूँ। (चला जाता है)

सरोजिनी—(अपने-आप) चाबी नहीं मिली। (चंद्रिका से) चन्दो, तूने चाबी नहीं देखी ?

चंद्रिका—मैं क्या जानूँ, अम्मा ? सवेरे से मैंने तो देखी नहीं है।

(अम्बिका, दीनानाथ और वशीधर का प्रवेश)

अंबिका—कैसी तबियत है ? सवेरे तो ठीक थी। एकदम क्या हो गया ?

सरोजिनी—न मालूम। मैं तो तुम्हारे घर थी। आकर देखा तो बेहोश पड़े हैं। मैं तो घबरा गई हूँ भैया !

दीनानाथ—मुँह से लार बह रही है। आँखें बिलकुल बन्द हैं। मुझे तो अन्त दिखाई देता है। यह ठीक है मेरी इनके साथ कभी नहीं पटी, सदा हम दोनों अलग-अलग रहे, पर हम में प्रेम सदा से रहा। और मेरे पास मकान होता तो क्या इन्हें अम्बिका के यहाँ ठहरने देता ? अपने घर पर ही ठहराता। (चिल्लाकर) मुझे मालूम होता कि भाई इतनी जल्दी चले जायगे तो मैं अपने घर ही न ठहराता। हाय, कुछ दिन तो सेवा कर ही लेता। बेटी चन्दो, अब तेरा मेरे सिवा कौन है ? तू मेरी बेटी है। हाय, एकदम क्या हो गया ?

अंबिका—मामला ज़रा टेढ़ा होता जा रहा है। मुझे तो कुछ भी नहीं कहना। दूर के सही, पर आख़िर भाई तो मेरे भी थे। और जब वह मेरे घर आकर ठहरे तो मुझे अपना समझकर ही तो ठहरे।

दीनानाथ—सो तो है ही। तुम्हें और मुझे सदा अपना ही समझा। और समझते क्यों नहीं ? क्या हम लोग पराये थे ? अपने थे तभी तो बर्मा से रिटायर होकर यहाँ आए। भारतवर्ष में क्या और जगह नहीं है ? बड़े-बड़े शहर हैं, उनमें होटल हैं, धर्मशालाएं हैं। जब उन्हें हमारा यह नगर पसद था, हम लोग पसंद थे, तभी-तो यहाँ आये। कहते क्यों नहीं, अंबिका ?

अंबिका—सो तो है ही। पर मुझे तुमसे अधिक अपना निकट संबंधी समझा, तभी तो मेरे यहाँ ठहरे। यह ठीक है खाया उन्होंने अपना, पहना अपना, पर मकान तो मेरा था। और जगह क्यों नहीं ठहर गए ?

[सिद्धेश्वर का प्रवेश]

सिद्धेश्वर—डॉक्टर तो मिला नहीं, कह आया हूँ उसके कंपाउण्डर से कि मरीज़ों को देखकर लौटते ही उसे भेज देना। पता बता दिया है। (देखकर) अवस्था वैसी ही है। फिर भी गीता सुनाने में कोई हर्ज नहीं है। मैं इनके पास बैठकर गीता पढ़ता हूँ। ज़रा कोई आसन हो तो मँगा दो। ईश्वर इनकी आत्मा को शान्ति दे।

[चंद्रिका आसन लाकर देती है। सिद्धेश्वर स्वयं पानी लेकर हाथ-पैर धोकर बैठ जाता है और गीता-पाठ करता है]

दीनानाथ—यह निश्चित है कि इनका अंतकाल आ गया है। इसके पहले हम लोग और तैयारी करें। क्यों भाई अंबिका ?

अंबिका—यह भी कोई कहने की बात है ? ईश्वर इनकी आत्मा को शान्ति दे। बेटी चंदो, अब तो तुम्हें यहीं रहना है। मैंने सोचा है, जैसे मेरे चार बच्चे हैं वैसे ही एक और है। अब तो मैं ही इसकी ब्याह-शादी करूँगा। और मुझे कमी ही क्या है। भाई की आत्मा को कष्ट थोड़े ही होने दूँगा। आख़िर यह भी तो मेरी ही आत्मा है। भागीरथी, अरी भागीरथी, कहाँ गई ?

[भागीरथी आती है]

भागीरथी—क्या है ?

अंबिका—देख, एक चार-पाँच सेर गेहूँ, कुछ चावल–यही दो सेर निकाल तो ला। आखिर भैया ऐसे ही थोड़े जायंगे। कुछ दान-पुण्य भी तो करना है।

सरोजिनी—आप क्यों कष्ट करते हैं ? मैं रुपए देती हूँ, मँगा लो।

[जेब से निकालने लगती है, पर दो रुपए निकलते हैं। फिर ताली का गुच्छा ढूंढती है। जब नहीं मिलता तो रायसाहब की खाट के पास जाकर सिरहाने देखती है। इतने में झपट कर दीनानाथ तकिए

के नीचे से चाबी का गुच्छा निकाल लेता है। अंबिका दौड़कर गुच्छा दीनानाथ के हाथ से छीनने लगता है]

दीनानाथ—यह क्या करते हो, अंबिका ? रहने दो न।

अंबिका—गुच्छा मेरे पास रहना चाहिए, समझे ? रायसाहब मेरे पास आकर ठहरे थे।

दीनानाथ—(अंबिका से गुच्छा छीनता हुआ) यह कैसे हो सकता है ? भाई तो आखिर मेरे थे। तुम तो दूर के सम्बन्धी हो।

सरोजिनी—यह तो बड़ी ज़बर्दस्ती है। मेरे हाथ से तुम दोनों ने गुच्छा छीन लिया। ओ कृपा, अरे कृपा, देख तो, उठ।

[गुच्छा अंबिका के हाथ में आ जाता है। वह उसे जेब में रख लेता है। कृपा उठता है और क्षण-भर में सारी परिस्थिति को ताड़कर अलमारी में रखे कैशबॉक्स को बगल में रख लेता है]

कृपानाथ—(चिल्लाकर) आखिर यह हो क्या रहा है ? गुच्छा कहाँ है, सरोजिनी बहन ?

सरोजिनी—देख तो, रायसाहब के तकिए के नीचे से गुच्छा निकालते हुए मेरे हाथ से इन दोनों ने छीन लिया है। आज इनके ये रिश्तेदार बन गए हैं।

[गीता-पाठ हो रहा है]

अंबिका—सुनो, कृपा, यह कैशबॉक्स यहीं रख दो, समझे ? नहीं तो मुझे दूसरी कार्रवाई करनी पड़ेगी।

दीनानाथ—(अंबिका से) मैं भी तो सुनूँ, तुम्हारा मुझसे गुच्छा छीनने का क्या अधिकार है ? सीधी तरह से गुच्छा दे दो, नहीं तो खून-खराबी हो जायगी।

[भागीरथी दो बरतनों में गेहूँ-चावल लाकर रख देती है]

अंबिका—(कृपा से) तुम यहाँ से एक भी चीज़ नहीं ले जा सकते, समझे ? भागीरथी, बुला तो ला किशन को। देखूँ, कैशबॉक्स

कैसे हथियाते हैं ? खिलायें हम, रखें हम, प्यार करें हम, सेवा करें हम, दान-पुण्य करें हम, और माल ले जायें ये, जो उनके कुछ भी नहीं हैं। नौकरों की तरह जिन्हें रखा, आज वे उनके सगे बन गए। रख दो कैशबॉक्स !

[कृपा से छीनने दौड़ता है। दोनों कैशबॉक्स के लिए लड़ते हैं। वंशीधर अंबिका की जेब से गुच्छा निकालकर दीनानाथ को दे देता है। भागीरथी गेहूं-चावल छोड़कर वंशीधर को पकड़ लेती है। सरोजिनी हैरान होकर देखती है। कृपा कैशबाक्स को दबाकर बैठ जाता है। अंबिका छुड़ाने का यत्न करते-करते उसे मारने लगता है। इसी संघर्ष में अंबिका गर्दन पकड़ कर कृपा के सिर को कैशबॉक्स से टकरा देता है। कृपा अंबिका को पकड़कर नीचे गिरा देता है।]

कृपा—खून पी लूँगा, जो ज़रा भी चीं-चपड़ की। आए माल लेने ! जन्म-भर सेवा हमने की, माल यह लेंगे।

सरोजिनी—अंबिका, दीनानाथ, सुनो, यह तुम लोगों की बड़ी ज़्यादती है जो तुम लड़ रहे हो। उस समय तुम कहाँ थे जब मेरी बहन मरी थी ? ऐसा ही प्रेम था तो उस समय दूसरा ब्याह करा देते। मुझे कुछ नहीं चाहिए—पर लड़की को तो चाहिए। असली मालकिन तो वही है। मैं तो जैसे पहले थी वैसे ही अब भी गुज़ारा कर लूँगी।

कृपा—सब गलत बात है। मैं एक भी पैसा किसी को न लेने दूँगा, समझे ? खून कर दूँगा। एक-एक को देख लूँगा। देखूँ कौन आता है मेरे सामने ? (आस्तीन चढ़ाकर खड़ा हो जाता है)

भागीरथी—(कृपा से) तेरी इतनी हिम्मत कि तू अनाप-शनाप बके ! जीभ खींच लूँगी, मरे !

सरोजिनी—तो वह क्यों दूसरे का माल हथियाना चाहता है ?

सिद्धेश्वर—(गीता पढ़ते हुए) बड़े दुःख की बात है। एक प्राणी कष्ट में है, और आप लोग उसकी अवस्था से दुःखी होना तो

दूर, आपस मे उसके पैसे के लिए लड़ रहे हैं। कितनी शरम की बात है!

दीनानाथ—(कृपा से) यदि तू समझता है कि तू जवान है और बलवान है तो याद रखियो, मैं भी कम नहीं हूँ। मैंने तेरे-जैसे बहुत देखे हैं। रोज ऐसे घरकटों को चराना मेरा काम है। सीधी तरह कैशबॉक्स दे दे, नहीं तो ठीक नहीं होगा। वशीधर, क्या देख रहा है? ये साले मुफ्तखोरे माल ले जाय और हम टापते रहे!

[वशीधर कृपा से लिपट जाता है। दोनो गुत्थम-गुत्था हो जाते हैं। लडते-लडते दोनो के चोटें आती है। कभी कृपा, कभी वशीधर ऊपर-नीचे होते रहते हैं। दीनानाथ अबिका को बाहर ले जाकर एकात मे बातें करके लौटता है। फिर दोनो कृपा के ऊपर पिल पड़ते हैं, और कैशबॉक्स छीन लेते हैं। कृपा के सिर से खून निकलने लगता है। दोनो आदमी कृपा के हाथ-पैर बाधकर दूसरे कमरे में बद कर देते हैं। सराजिनी, चद्रिका चिल्लाने लगती हैं। सिद्धेश्वर पूजा छोड़-कर बीच-बचाव करता है। फिर पूजा पर बैठ जाता है।]

सिद्धेश्वर—भाइयो, मनुष्य से बढ़कर रुपया नहीं है। तुम लोगों को रायसाहब ?म नहीं है, उनकी आत्मा अभी तक कष्ट में है, प्राण निकल नहीं रहे हैं, और तुमने रुपए के लिए हाथा-पाई आपा-धापी शुरू कर दी। बडा खेद है।

चन्द्रिका और सरोजिनी—हाय, लूट लिया रे! बचाओ कोई!

[भागीरथी दौड कर बाहर का द्वार बद कर आती है]

दीनानाथ—वाही-तबाही मत बको। नहीं तो रायसाहब को फूँकने से पहले तुमको खतम कर देना होगा, समझीं? सिद्धेश्वरजी, ज़रा सुनिए। (उसे उठाकर ले जाता है और उसको घर से बाहर निकाल कर) बस, अब ठीक हो गया।

अंबिका—न जाने कहाँ से दोनों कमीने इकट्ठे हो गए हैं। और (सरोजिनी से) तू किस बूते पर रुपया माँग रही है? क्या तू इसकी

औरत थी ? वेश्या कहीं की ! इससे तो अच्छा था चुल्लू-भर पानी में डूब मरती।

भागीरथी—भला देखो तो, आदमियों के मुँह लगती है !

सरोजिनी—मैंने तो किसी से कुछ नहीं कहा। मैं तो यह कहती हूँ कि यदि तुम्हें लेना था तो उनके सामने लेते।

दीनानाथ—देखो, किसी को हमारे बीच में बोलने की ज़रूरत नहीं है। आपस का मामला है, हम निबटा लेंगे। सरोजिनी भी हमारी है। अंबिका, इस झगडे से तो अच्छा है कुछ फ़ैसला हो जाय।

अंबिका—मुझे कोई एतराज़ नहीं है।

दीनानाथ—तो सुनो, पहले देखो कितना रुपया है। हम कुछ सरोजिनी को भी दे देंगे। आख़िर इसने जो इतने दिन सेवा की है तो इसका भी तो कुछ भाग होना ही चाहिए।

अंबिका—ठीक है। मैं कब इसका विरोध करता हूँ ? दो हिस्से हम दोनों के, एक हिस्सा सरोजिनी का।

दीनानाथ—मंजूर है। क्यों, सरोजिनी ?

[सरोजिनी कुछ नहीं बोलती। बाहर से दरवाज़े पर किसी की आवाज़ आती है]

वंशीधर—(ऊपर से झाककर) डॉक्टर आया है।

अंबिका—डॉक्टर से कह दो अब देखने की आवश्यकता नहीं है। काम समाप्त हो गया।

दीनानाथ—कह दो जाकर। (भागीरथी दौड़कर जाती है)

सरोजिनी—डॉक्टर को बुलाया है तो उसे देख लेने दो। मैं उसे बुलाऊँगी।

दीनानाथ—ठहरो ! कोई ज़रूरत नहीं है डॉक्टर की। अब खेल ख़तम हो गया है। वंशीधर, जा डॉक्टर से कह दे।

सरोजिनी—नहीं, डॉक्टर को देखना चाहिए। मैं लाती हूँ।

अंविका—तू नहीं जा सकती, वंशीधर, रोक इसे।

भागीरथी—(कमरे में आकर) डॉक्टर गया। मैंने उससे कह दिया।

सरोजिनी—(विवश भय से चीखकर फर्श पर गिर जाती है) हाय, लूट लिया! मार डाला!

(चंद्रिका सरोजिनी से लिपट जाती है। अंविका और दीनानाथ गुच्छा निकाल कर कैनवॉक्स खोलने लगते हैं। इसी समय रायसाहव आखें खोल देते हैं।)

रायसाहव—बस, हाथ मत लगाना। रख दो चावी!

[सब आश्चर्य और भय से जड़वत् खड़े रहते हैं। सरोजिनी व चंद्रिका ज़मीन से आधी उठी हुई देखती रहती हैं। दीनानाथ के हाथ से चावी का गुच्छा गिर जाता है। अंविका एक कोने में खड़ा हो जाता है। भागीरथी सिर नीचा किये वाहर निकल जाती है]

रायसाहव—(कृपा को कमरे से निकाल कर सरोजिनी से) उठो, हम लोग इस मकान में अब एक क्षण भी न रहेंगे। उठो।

दीनानाथ और अंविका—भाई साहव, तुम तो मर गए थे? यह पाखंड!

रायसाहव—मैं मरा नहीं। अभी ज़िन्दा हूँ। तुम्हारी परीक्षा ली थी। आज मेरी आँखें खुल गईं। मुझे मालूम हो गया, कौन कितने पानी में है। मैं तुम्हारा भाई भी नहीं हूँ। मैं वापस वर्मा जाऊँगा। चलो, सरोजिनी, चंद्रिका।

[सरोजिनी, चन्द्रिका और रायसाहव सामान लेकर खड़े होते हैं]

(यवनिका)



मन्दिर के द्वार पर

पात्र

छुमिया	एक चमारिन
हरि	उसका लड़का
सुक्खू	हरि का मित्र
धनीराम और चौधरी	चमार
रामरूप	चमार
तुल्लू	चमार

पुजारी, सेठ, वनिया, भक्त, डॉक्टर, सहेली आदि

मन्दिर के द्वार पर

पहला दृश्य

[छमिया काछिन की झोपड़ी। छप्पर के भीतर का भाग गोबर से लिपा-पुता है, सामने खाट पर उसका पुत्र हरिया, जिसकी अवस्था चौदह और पन्द्रह वर्ष के बीच में है, बैठा है। सिर और हाथो में पट्टिया बधी हुई है। खाट के पास एक चटाई बिछी है। सामने राम, लक्ष्मण और सीता की एक बिना-मढी तसवीर दीवार पर टगी है उसके पास एक वैसा ही बाल कृष्ण का चित्र है। ज़रा दूर पर हट-कर कलैंडर मे निकाला हुआ किसी सिनेमा-अभिनेत्री का एक चित्र टगा है। मिट्टी के एक बरतन में गूगल जल रहा है। एक तरफ़ लकडी के एक टूटे सन्दूक के ऊपर टोकरी में अनाज तथा अटेरन रखी है। उनके पास चरखा। छप्पर के बासों में एक रुई की पोटली बधी है। एक ओर अनाज का कुठला। उस पर कते हुए सूत की टोकरी। हरि नहाया हुआ दिखाई देता है। छमिया झोपड़ी में कुछ उठा धर रही है। कभी वह बाहर निकल जाती है और पड़ोस की किसी स्त्री को आवाज लगाती सुनाई देती है। फिर घर में आजाती है। हरिया के पास उनकी अवस्था का एक लड़का आता है उसका नाम है सुक्खू।]

सुक्खू—कहो, हरि, अब तो तुम खेलने चलोगे न ?

हरि—अब तो मैं ठीक हूँ, सुक्खू, घाव सब ठीक हो गए हैं। वैसे तो अब भी खेलने चल सकता हूँ, पर माँ नहीं जाने देती। कहती है पहले पूजा हो जाने दे। अब पूजा में देर ही कितनी है, बस थोड़ी देर में ख़तम हो जायगी। फिर खेलना ही तो है।

सुक्खू—तुम्हारे न होने से खेलने में मज़ा भी तो नहीं आता। जल्दी ही मन ऊब जाता है। कल उजागर और मोकम में लड़ाई हो गई। हैं पट्ठे दोनों मज़बूत! न एक हटा, न दूसरा। बात कुछ भी नहीं थी। उजागर ने दाईं छूते-छूते मोकम के उंगली छुआ दी। मोकम पकड़ा गया तो अब उसे दाईं देनी चाहिए थी, पर उसने कहा मैंने पहले दाईं छुई, पीछे उजागर ने मुझे छुआ है। बस इतनी-सी बात पर लड़ाई हो गई। पहले तू-तू मैं-मैं, फिर हाथा-पाई। हमने बहुत बचाया, लेकिन वे तो जैसे पहले से ही ख़ार खाये बैठे थे।

हरि—उजागर बदमाश है।

सुक्खू—पर कल तो मोकम की ज्यादती थी, हरि। जब छू लिया तो उसे चोर बनना था। सो नहीं बना।

हरि—उजागर तेरा दोस्त है न।

सुक्खू—दोस्त तो मोकम भी है मेरा, पर मोकम दगाबाज़ है। दोस्ती निभाना नहीं जानता। अभी दोस्त है, अभी आँख दिखा देगा। मेरे तो दो ही दोस्त हैं, उजागर और तुम। मोकम चौधरी का लड़का है, इसलिए अकड़ दिखाता है। पर कल सब ऐंठ निकल गई। उजागर ने ज़मीन पर पटक कर ऐसा रगड़ा कि बच्चू के होश ढीले हो गए होंगे। और अब इकराम और शिब्बन तो आते ही नहीं हैं खेलने, उन्होंने अपनी नई पार्टी बनाई है। जब हम खेलते हैं तो दूर खड़े घूरकर देखते हैं। मैंने उनसे खेलने को कहा, तो मना कर दिया। जब से लड़ाई हुई उनके ढंग कुछ बिगड़ गए हैं। मत खेलो। तो आज शाम को रहे, क्यों, हरि?

हरि—आज नहीं कल।

[छमिया का प्रवेश]

छमिया—क्या आज नहीं कल, सुक्खू?

सुक्खू—कुछ नहीं चाची, खेलने की बात हो रही थी।

छमिया—नहीं बेटा, हरि अभी कमज़ोर है। टाँके अभी कच्चे हैं। दौड़-भाग में कहीं टूट जाय तो ठीक नहीं है, बेटा। पार्वती क्या कर रही है ?

सुक्खू—बैठी धान बीन रही थी। काका उसारे को लीप-पोत रहे थे। दिवाली आई, तुम अबके खिलौने लेने हरि को नहीं भेजोगी, चाची ? सारा गाँव-का-गाँव दीवाली खने रामनगर जा रहा है।

हरि—मैं भी चलूँगा, सुक्खू। अम्मा तो घाव के टाँकों का डर दिखाती रहती है। यह देखो अब कहाँ हैं कच्चे ? (माथे की पट्टी खोलकर दिखाता है)।

छमिया—हैं ! हैं ! यह क्या करते हो, लल्ला ! अभी मत खोलो, बेटा, डॉक्टर ने मना कर दिया है। (हरि की पट्टी पकड़कर फिर बाँध देती है)।

[धनीराम चौधरी का दो आदमियों के साथ प्रवेश]

तीनों—कहो भाभी, कैसी तबियत है हरि की ?

[सुक्खू भाग जाता है]

छमिया—सुक्रदम तुम्हारी किरपा है, भैया। (बिछी हुई चटाई हाथ से छू कर ठीक करती है) बैठो। (थोड़ा-सा घूँघट निकाल कर एक तरफ खड़ी हो जाती है) हुक्का लाऊँ ? (कोने से हरि के बाप का हुक्का निकाल कर ताज़ा करने चली जाती है)

चौधरी—भगवान् की किरपा है जो वासुदेव का लड़का बच गया। नहीं तो जान लेने में तो कसर रही नहीं थी, तुल्लू।

तुल्लू—छमिया का अकेला बेटा है। भगवान् ने लाज रख ली। नहीं तो छमिया रो-रो कर पागल हो जाती, चौधरी। अब सब धरे गए हैं एक-एक करके, पर गवाही में कसर न रहे, चौधरी।

चौधरी—गवाही ! पचास गवाह हैं, मन्दिर पर हमला करना कोई आसान है ! देवता तो हमारे भी हैं, यह कैसे हो सके है कि

फूट पड़ जाय। जैसे ही लाला हरिराम ने आकर ख़बर दी वैसे ही पचास लठैत पहुँच गए। फिर तो भागते ही नज़र आए। पर हरि को तो मार ही डाला था।

रामरूप—अरे, तो ये कहाँ मुक़ाबले पर डटे भी हैं, जो अभी लड़ते ? पारसाल ताजिए के मौके पर चौराहे के पीपल के लिए जो झगड़ा हुआ, वह तुमसे छिपा थोड़े ही है !

तुल्लू—चौधरी तो वहीं थे।

रामरूप—हाँ, चौधरी तो थे ही, इन्होंने बहुत समझाया था।

चौधरी—मैं तो यह कहता हूँ मेल से रहो, कोई तुम्हारा कुछ नहीं कर सकता। इसीलिए मैंने उनसे कह दिया था, 'पीपल की एक-एक पत्ती पर एक-एक आदमी की जान जायगी, सोच लो।' तब कहीं जाकर ठंडे पड़े, जब हम किसी के धरम में रुकावट नहीं डालते तो फिर हमारे धरम के काम में कोई क्यों हाथ डाले ?

[छमिया हुक्का भरकर सामने रख देती है, सब बारी-बारी से पीने लगते हैं]

चौधरी—भाभी, रुपए-पैसे की फिकर न करना, सब तेरा ही है।

छमिया—लाला, तुम्हारे होते मुझे किस बात का दुःख है। तुम्हारे पुन्न-परताप से यह छोकरा जी गया। मेरे लिए यही बहुत है।

चौधरी—पुन्न-परताप हमारा क्या है, तेरा ही है। तूने वामदेव के आँख मींचने के बाद से अपना सब-कुछ छोड़कर इसी को पाला है। नहीं तो तुझे क्या कमी थी !

तुल्लू—चौधरी तो अब भी तैयार हैं। छमिया नहीं मानी।

चौधरी—रामरूप ही कौन पीछे रहे ? इन्होंने भी तो छमिया के घर की धूल छानते-छानते कई जोड़े जूते तोड़ डाले।

रामरूप—छमिया सती है, भैया, मैंने तो उसी समय समझ लिया था कि यह बेल मंढे चढ़ने वाली नहीं है। सती के पुन्न से लड़का बच

या, यह अच्छा ही हुआ। छमिया, कल से इसे मेरे पास भेज दे, काम सिखा दूँगा। घर का काम है, चौधरी।

छमिया—तुम्हारी ही दया है, भैया, नही तो इसके बाप के बाद क्या मैं अकेली इज्जत-आबरू से रह सकती थी? बहुत दिनों तक वह मौलवी पीछे पडा रहा। कहने लगा, 'मुसलमान बन जा, माला-माल कर दूँगा,' भला अपना धरम क्या छोडने की चीज है?

चौधरी—मुझे नहीं बताया (क्रोध में भरकर) उस मौलवी को यहाँ आने की हिम्मत कैसे हुई?

छमिया—काम के बहाने यहाँ आता था। ज़मींदार ने लालच दिया दस बीघे का एक खेत देने को भी कहलवाया। भला, तुम्हीं सोचो अनाथ पर ऐसा ज़ोर डालना उचित था? एक दिन मैंने जब डाँट लगाई तो ठंडा हुआ। हम औरत जात किस-किससे कहती फिरें? तुम्ही लोग कहते, मुसरी बदमाश है, तभी तो लोगों को कहने का औसर मिलता है।

चौधरी—नही, तू घबरा मत, छमिया। जात-बिरादरी के सब लोग एक बराबर हैं, और मैंने तो सोच रखा है कि हरि का ब्याह मेरे घर होगा। देख, और कहीं बात न कर .बैठियो।

छमिया—चौधरी, मैं क्या तुमसे बाहर ? जो तुम कहोगे वही होगा।

रामरूप—बातों-बातों में मामला पटा लिया, चौधरी! (हसकर) समझदार आदमी ऐसे ही होते हैं। छमिया न मिली, उसका लड़का ही सही। (दोनो हसते है)।

छमिया—आज लल्ला की बीमारी का परसाद है। मैं अपने-आप मन्दिर में चढ़ाने जाऊँगी। शाम को गाना-बजाना भी है। सो सबको न्योता भी देना है।

चौधरी—क्या हरज है, हम तैयार हैं। कोई काम हो तो बता देना।

[सब उठते है, छमिया हाथ जोडकर खडी हो जाती है। हरि

सबको हाथ जोड़ता है, लोग उसे आशीर्वाद देकर चले जाते हैं। छमिया प्रसन्नता से फूल उठती है, बच्चे के स्वास्थ्य, चौधरी की लड़की से ब्याह का समाचार, रामरूप के यहां काम—इन तीनो बातों को सोच-कर वह धीरे-धीरे गुनगुनाती है, दो औरतों का प्रवेश]

पहली—ओहो, आज तो बड़ी तैयारियाँ हो रही हैं, छमिया।

छमिया—बहन, उन्हीं सत्यनारायण स्वामी ने लड़का बचाया है। आज उन्हीं के मन्दिर में परसाद बोला है।

दूसरी—क्या हरज है, उन्हीं की तो सब माया है, बचाने वाले वह ही हैं। छमिया, उन्हीं की दया से लड़का बचा है, तो पूजा तो करनी ही होगी।

पहली—बड़ा अच्छा हुआ। सुना है आज गाना-बजाना भी है ?

छमिया—हाँ, बहन, सोचा तो है। तुम सब तो आओगी ही ?

दोनों—क्यों नहीं ! हम सभी आयगी। ढोलक,मजीरा चौधरी के घर से माँग लेना।

छमिया—मैं परसाद बना रही हूँ अब तो।

पहली—एक बात और कहूँ, जो तू माने ?

छमिया—बहन, तुमसे क्या मैं कोई दूर हूँ ? जो कहोगी सो ही होगा। मैं तो तुम्हीं लोगों के सहारे हूँ, बहन। और आज मुझे बड़ी खुशी है कि हरि मन्दिर की रक्षा करता हुआ घायल हुआ और उन्हीं भगवान् ने उसकी रक्षा की। मुझ गरीबनी की लाज रख ली उन्होंने। (हाथ जोड़कर) हे भगवान्, तुम्हीं हो गरीबों की लाज रखने वाले। हाँ, कह क्या बात है ?

पहली—चल रहने दे, कोई बात नहीं है।

छमिया—नहीं, नहीं, कह भी दे। अरी, मैं क्या तुमसे कुछ दूर हूँ ? हाँ, कह न क्या बात है ?

पहली—बात यह है कि मन्दिर के ऊपर पिछली लड़ाई में हरि के साथ तेरे भैया को भी चोट आ गई थी न ? वह अब ठीक हो गए हैं।

मन्दिर जाने की सामरथ तो, देख ले, अब हममें है नहीं। परसाद चढ़ाने को पैसे भी नहीं हैं। सो उन्होंने सोचा है कि तेरी यह तसवीर (बाल कृष्ण की तसवीर की ओर इशारा करती है) ले जाऊँ घर में ही भोग लगा लें। फिर जब भगवान् देंगे तो सत्यनारायण की कथा करायगे, छमिया।

छमिया—क्या हरज है बहन, तसवीर ले जाना। फिर आजायगी।

हरि—अम्मा, वह तसवीर यहाँ से नहीं जा सकती। और चाहे जो दे दे।

छमिया—बेटा, अभी लौट आयगी। भगवान की मूर्ति है, भगवान् तो सभी के हैं न? उन्हें भी पूजा कर लेने दे।

पहली—अभी ले आऊँगी, बेटा।

हरि—नहीं, यह मूर्ति मैं किसी तरह नहीं दे सकता, अम्मा। जब तू मुझे देख-देखकर रोया करती थी, तब मैं बराबर यही मूर्ति देखा करता था। इन्होंने तो मुझे अच्छा किया है। एक दिन सोते-सोते इन्होंने मुझसे कहा कि तू अच्छा हो जायगा। सो अम्मा

छमिया—बेटा, अभी ले आयगी, दे दे।

हरि—(उदास भाव से) दे दे फिर।

(छमिया चित्र देती है, हरि उदास-सा देखता रहता है)

दूसरा दृश्य

[गाँव के बाहर एक छोटा-सा मन्दिर। सत्यनारायण के मन्दिर की कोठरी के आगे दालान, फिर आँगन और द्वार। कोठरी के आगे चौकी पर तुलसी-दल और एक ताँबे के पात्र में चरणामृत रखा हुआ है। भक्त लोग आ-जा रहे हैं। दालान में छत से एक घंटा भी लटक रहा है। उसे बजाते जाते हैं। पुजारी के पास ही तिलक लगाये तथा गोमुखी में हाथ डाले कुशासन पर एक छैला भक्त बैठा है, जिसकी आँखों में सुरमा है, बाल कढ़े हुए और कान में इत्र का फोया है। वह

महाशय मन्दिर में दर्शनार्थ आई स्त्रियों को कभी मुस्करा कर, कभी तिरछी नजर से, कभी नजर घुमाकर देख रहे हैं। उसके पास ही एक बहुत मैले-कुचैले वस्त्र पहने एक बनिया भजन कर रहा है। यह बनिया भजन की अपेक्षा पुजारी से बातें अधिक करता है। कभी लेन-देन की, कभी कलियुग के आगमन की, कभी लड़ाई की, कभी लोगों में फैली नास्तिकता की बातें कर रहा है। सभी तरह की स्त्रियां—बूढी, जवान, कन्याएं—दर्शन करने आती है और चली जाती है]

बनिया—सोना एक सौ एक रुपये से अट्ठानवे हो गया, बड़ा धोखा हुआ। ऐसा अच्छा मौक़ा हाथ से चला गया। तुम्हारा ज्योतिष क्या कहे है पुजारी जी?

पुजारी—भाव तो फिर बढ़ेगा भक्तजी, हमारा ज्योतिष तो यही कहता है। घटाव तो कुछ दिनों का है, फिर चढ़ेगा।

बनिया—तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर। ठाकुर की पोशाक पक्की है। दो ब्राह्मण भोजन भी। दस दिन हुए पाँच हज़ार का ख़रीदा था। एकदम भाव गिर गया। (माला जपता है)

दूसरा—हमें क्या परवा है। पचहत्तर का ख़रीदा हुआ है। एक सौ एक होता, तो भी ठीक था। अट्ठानवे में भी अपने राम को घाटा नहीं है। मैं तो अब घी की चिन्ता में हूँ। कहीं से चालीस-पचास पीपे मिल जायं तो रख लूँ। अपने यहाँ तो सभी काम होते हैं न, रुई भरने में भी कोई बुराई नहीं है, क्यों, पुजारी जी?

पुजारी—रुई का भाव भी चढ़ रहा है। ख़याल है चालीस तक पहुंच जायगी।

दोनों—ठीक है, फिर तो ठीक है। हे भगवान्, तुम्हीं हो!

(एक मनुष्य मन्दिर के अन्दर आकर दर्शन करता है और प्रसाद लेकर चला जाता है)

बनिया—पुजारी जी, सुना तुमने, साँपों की चरबी घी में मिलाकर

लाखों रुपये कमाये हैं इसने। व्यापार है, क्या किया जाय ? हमें मालूम होता

पुजारी—(आश्चर्य से) लाखों ? यह तो बुरा काम है।

दूसरा—बुरा क्या है इसमें, व्यापार है। व्यापार तो कोई भी बुरा नहीं है।

(वह मनुष्य फिर लौट आता है)

आगन्तुक—पुजारी जी !

पुजारी—(हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है) जी सेठ जी !

आगन्तुक—मैं सामने आँगन के पास में एक महादेव का मन्दिर बनवाना चाहता हूं। महादेव, पार्वती और नंदी की मूर्तियाँ कहाँ से मिलेंगी ?

पुजारी—सेठजी, जयपुर में मूर्तियां मिलती हैं। वहाँ से मँगानी होंगी।

आगन्तुक—क्या तुम जा सकोगे ?

पुजारी—क्यों नहीं, सेठजी, भगवान् का काम हो और मैं न जाऊँ ? रही पूजा की बात, सो लड़का सात-आठ दिन तक कर लेगा।

आगन्तुक—मैं अपने मुनीम को भेजूँगा। कल से मन्दिर बनना आरम्भ हो जायगा। तुम जाकर मन्दिर के लिए मूर्तियाँ ले आओ। जो कुछ प्रतिष्ठा में लगे वह भी करना है। पच्चीस वेदपाठी वेद-पाठ करेंगे प्रतिष्ठा के समय। जो ज़रूरत हो, वह मुझे लिखकर भेज दो, प्रबन्ध हो जायगा।

पुजारी—जी, सेठजी !

आगन्तुक—(जाते हुए लौटकर) मेरा छोटा मुनीम भी साथ जायगा। क्या मन्दिर बनाने के लिए मुहूर्त्त की भी आवश्यकता है ?

पुजारी—मन्दिर के लिए, ख़ास करके मन्दिर में मन्दिर बनवाने के लिए मुहूर्त्त की आवश्यक्ता नहीं है। वैसे भी कल देवोत्थानी एकादशी है, शुभ दिन है। पर मन्दिर के मालिक से पूछा होता न ?

आगन्तुक—हाँ, हाँ, ठीक है। फर्श के लिए संगमरमर मँगाना है, उसका भी प्रबन्ध करना है। (कुछ सोचकर) न हो तो मन्दिर के बाहर इतनी जगह पड़ी है, उसी में नया मन्दिर क्यों न बनवाऊँ?

बनिया—यह ठीक है। आप जैसे धर्मात्मा के हाथों तो विशाल मन्दिर बनना चाहिए।

आगन्तुक—यह ठीक है, नया मन्दिर ही बनेगा। मैं चाहता हूँ मेरे कलकत्ते जाने से पहले मन्दिर बन जाय, रुपये की कोई चिन्ता नहीं है। बीस-पच्चीस हज़ार तक खर्च कर दूँगा। भगवान् की दया है। यहाँ कुछ कमी नहीं है। न हो तुम ऐसा करो, पूजा के बाद घर आ जाओ। मुहूर्त्त देखकर काम शुरू हो जाय। देर लगेगी तो मैं अपने बड़े मुनीम को काम के लिए भेज दूँगा। और प्रतिष्ठा के दिनों में फिर आ जाऊँगा।

[चला जाता है]

बनिया—लाखों रुपये कमाये हैं, लाखों! सुना है बंगाल में हिंदू-मुसलमानों में बड़ी लड़ाई हो रही है।

दूसरा—हज़ारों की हत्या हो गई है, सैंकड़ों हिन्दू मुसलमान बना लिये गए। बड़ा ज़ुल्म हो रहा है। हमारे यहाँ ही उस दिन ये चमार सहायता न करते तो आज मन्दिर खण्डहर होता।

पुजारी—भगवान् को मन्दिर बचाना था, सो चमारों को भेज दिया। आख़िर वे भी तो हिन्दू हैं न, क्यों सहायता न करते?

बनिया—सनातन धर्म ईश्वर का बनाया हुआ धर्म है, उसकी ही रक्षा न करेंगे तो किसकी करेंगे? धर्म का लोप थोड़े ही हो सकता है! (उठते हुए) चरणामृत दो, पुजारी जी।

पुजारी—हाँ, लो न भक्तजी! (चरणामृत देता है) तुम भी उठो, आँखें तो सिक चुकी होंगी।

(पहला चरणामृत लेकर परिक्रमा करता है)

दूसरा—लाला हरभगवान की लडकी क्या रोज़ इसी समय मंदिर में आती है ?

पुजारी—(आखों में मुसकराकर) रोज़ इसी समय। क्यो पसन्द आई ?

दूसरा—गज़ब की सुन्दरी है ! आज तो उसने जो तीर फेंका वह अभी तक चिध रहा है। पुजारीजी, आज सेर-भर घी घर से ले आना।

पुजारी—अच्छा। सवेरे से आ जाया करो, नई दुनिया दिखाई देगी।

(चरणामृत देता है दोनो जाने को तैयार होते हैं)

पुजारी—हैं, हैं, कहाँ घुसा आता है ? देखता नहीं है मन्दिर है, मन्दिर चमट्टे !

[दूर से आवाज आती है]

हरि—महाराज, परसाद चढ़ाने आया । रोक क्यों रहे हो ?

दूसरा—(सतर्क होकर) अबे, परसाद के वच्चे, देखता नहीं है ! जैसे इसके वाप का घर है !

वनिया—खबरदार, जो आगे पैर रखा !

हरि—रोकते क्यों हो ? क्या ठाकुरजी हमारे नहीं हैं ? हमको भी तो परसाद चढ़ाने का अधिकार है।

पुजारी—(डडा हाथ में लेकर) कैसा अधिकार, किसका अधिकार ? तेरा—चमार का ? खबरदार, जो दहलीज़ के भीतर पैर रखा ! मार-मार के सीधा कर दूँगा।

हरि—मैं परसाद चढ़ाऊँगा। ठाकुरजी को परसाद चढ़ाऊँगा। तुम मुझे रोक नहीं सकते।

पुजारी—मैं कहता हूँ तू दूर हो जा। भीतर मत घुस। क्या मंदिर को अपवित्र कर देगा, पाजी !

हरि—पुजारी जी, क्या ठाकुरजी तुम्हारे ही हैं, हमारे नहीं ?

पुजारी—(उसी जोश में) तुम्हारे ठाकुर नहीं हैं। अबे, अब भी घुसा आ रहा है !

हरि—क्यों, भीतर क्यों नहीं आ सकता ? मैं तो भीतर आऊँगा। देखूँ मुझे कौन रोकता है ! (घुसने लगता है)

पुजारी—क्या छू ही लेगा दुष्ट ? हट यहाँ से, नहीं तो लट्ठ तान के दूँगा। सिर फट जायगा।

बनिया—घोर कलियुग है। चमार भी मन्दिर में आने लगे तो धर्म कहाँ रहेगा ? अरे भई, मान जा। छोकरे, अपनी जाति के लोगों से कहकर और मन्दिर बनवा ले। यह हमारा मन्दिर है, तेरे बाप का नहीं।

दूसरा—सीधी तरह से चला जा। नहीं तो यहीं दम निकाल दूँगा। ससुरा आया है पूजा करने ! इनके भगवान् हैं !

हरि—(थाली लेकर भीतर घुसता हुआ) जब भगवान् ने मेरी रक्षा की है और माँ ने पूजा का परसाद भेजा है तो बिना चढ़ाये हरि नहीं लौटेगा।

बनिया तथा भक्त—हम कहते हैं मन्दिर के बाहर खड़े होकर बात कर ! यहाँ तेरा प्रसाद नहीं चढ़ाया जा सकता। क्या ठाकुरजी को अपवित्र कर देगा ?

हरि—क्या ठाकुरजी मेरे परसाद से अपवित्र हो जायगे ? क्या वह मेरे नहीं हैं ? उस दिन लड़ाई के समय क्या हम चमारों ने मन्दिर की रक्षा नहीं की थी ? यदि उस दिन ठाकुरजी हमारे थे तो आज क्यों नहीं हैं। पुजारी जी ! उसी समय तो मेरे (हाथ दिखाकर) यह चोट आई थी। टके लगवाकर माँ ने मुझे अच्छा कर दिया। माँ ने ठाकुरजी का परसाद बोला था। वही तो चढ़ाने आया हूँ। तुम मुझे रोकते क्यों हो ?

बनिया—वैसे तो भगवान् सभी के हैं, पर तू तो चमार है न, भला चमार मन्दिर में कैसे घुस सकता ? तू बाहर से दर्शन कर ले और घर चला जा।

हरि—मैं अवश्य पूजा करूँगा। (घुसता है)

[पुजारी तानकर एक लट्ठ मारता है। हरि चिल्लाकर गिर पड़ता है और पूजा की थाली वहीं झन्न से गिर पड़ती है। पुजारी सकपका उठता है। लोग इकट्ठे हो जाते हैं। सब चिन्ता-मग्न से दिखाई देते हैं]

बनिया—यह क्या किया पुजारी जी, तुमने ? अब फँसे-फँसे फिरोगे।

दूसरा—मारना नहीं चाहिए था, अब किया है तो भुगतो।

पुजारी—आप ही लोगों के कहने से तो मैंने रोका, नहीं तो मुझे क्या था ? मैं क्यों रोकता ? हाय भगवान्, अब क्या होगा ?

[हरि की मा छमिया दूर से 'हरि ! हरि ! बेटा !' पुकारती हुई आती है। आकर देखते ही मूक, स्तब्ध जड़ की तरह कुछ देर तक खड़ी रहती है, फिर एकदम बच्चे के ऊपर गिर पड़ती है और रोने लगती है]

एक—क्या बच्चा मर गया ?

दूसरा—मालूम तो ऐसा ही होता है।

तीसरा—बहुत बुरा हुआ। यह कितना अत्याचार कि एक हिन्दू भी मन्दिर के भीतर न जा सके। यह कौन-सा हिन्दू-धर्म है ?

चौथा—अरे, तो क्या मन्दिर में उसे आने दिया जाता ? कैसी बातें करते हो ?

छमिया—(क्रोध से उठकर) हत्यारो, तुमने पूजा करने आये एक बच्चे को लाठियों से मार डाला। तुम्हें शरम नहीं आई ? क्या यही तुम्हारा धरम है ? इस धरम में, इस मन्दिर में हम चमारों के लिए कोई जगह नहीं है ? क्या ठाकुरजी तुम्हारे ही हैं, हमारे नहीं ? नहीं, ये ठाकुरजी मेरे नहीं हो सकते, जिन्होंने अपने सामने मेरे भोले बच्चे की हत्या होती देखी और कुछ न कहा। उस दिन तुम लोग कहाँ गये थे, जब लोग तुम्हारे मन्दिर में आग लगाने को तुले हुए थे ? उस दिन तुम्हारी लकड़ियाँ, लाठियाँ, तलवारें कहाँ गई थीं, जब

वे लोग लूटने आये थे ? उस दिन इन चमारो ने तुम्हारी रक्षा की, अपने आदमियों को तुम्हारे लिए लड़ाई की आग में झोंका। आज ये मन्दिर हमारे नहीं हैं, आज तुम सबने मिलकर मेरे नौनिहाल बच्चे की हत्या कर डाली हाय मैं मर क्यों न गई ! मेरे बच्चे। अब क्या मुँह लेकर मैं यहाँ से जाऊँ ? (जोर-जोर से रोती है। एक डाक्टर भीड मे से निकलकर बच्चे को उठाता है। शोर मचता रहता है)

डॉक्टर—(बच्चे को देखकर)घबरा मत, बहन, यह बच जायगा। चोट गहरी नहीं है।

[डॉक्टर उपचार करता है, और थोडी देर में ही बच्चे को होश आ जाता है। छमिया उससे चिपट जाती है] .

डाक्टर—(लोगो से) यह आप लोगों का बडा अत्याचार है कि नीच जाति का कहकर आप उसी धर्म के आदमियो को रोकते हैं। ऐसा धर्म अब कभी ज़िन्दा नहीं रह सकता। आजकल संगठित रहने का युग है। यदि तुम्हें मर नहीं जाना है, भारतवर्ष से हिन्दू धर्म का नाश नहीं कर देना है, तो तुम्हें सब लोगों को एक बराबर समझना होगा। सबको अपना समझकर ही तुम जीवित रह सकते हो।

बनिया—डॉक्टर साहब, धरम के मामले में तुम क्या जानो ?

डॉक्टर—(आगे बढकर) धर्म के मामले में हम जानें, चाहे न जानें, पर इतना तो जानते हैं कि तुम्हारे मन्दिर को बचाने में पिछले दिनों इन्हीं लोगों ने बहादुरी दिखाई। ये न होते तो आज इस मन्दिर की क्या दशा होती, जानते हो ? सारी भगवान् की मूर्तियाँ टूटी हुई होतीं, मन्दिर में आग लग गई होती। फिर क्या होता ? एक बात और है—जब ये हिन्दू हैं तो इन्हें भी तो पूजा करने का अधिकार है। बहुत लोगों ने अपने मन्दिर के द्वार खोल दिये हैं। फिर क्यों पीछे रहते हो।

पुजारी—पर मन्दिर में ये लोग कैसे आ सकते हैं ?

डॉक्टर—मन्दिर में शराबी, चोर, जुआरी, रिश्वतखोर, ग़रीबों का खून चूसकर एक का चौगुना-पचगुना करने वाले आ सकते हैं, औरतों को ताकने वाले बदमाश आ सकते हैं, यह छोकरा (बनिये की ओर इशारा करता है) सुरमा लगाकर, इत्र का फोया लगाकर, सवेरे से यहाँ आने वाली लड़कियों को ताकता है, दुनिया-भर के व्यापार—छल, झूठ, कपट की बातें करने वाले लोग आ सकते हैं; साँपों की चरबी मिलाकर लोगों का स्वास्थ्य बिगाड़कर, बेईमानी से करोड़ों रुपये कमाने वाले मनुष्य के रूप में पशु, जिनके तुम 'सेठजी, सेठजी' कहकर पैरों के तलुए चाटते रहते हो, ऐसे लोग आ सकते हैं, तो यह निरीह, ईश्वर पर सचमुच श्रद्धा रखने वाला मनुष्य नहीं आ सकता, जो धर्म के लिए प्राण दे सकता है? यह घोर अत्याचार है। ऐसी हिन्दू जाति अब जीवित नहीं रह सकती। (क्रोध से काँपने लगता है, सब लोग चुप रह जाते हैं)

बनिया—पुजारीजी, यह क्या हो रहा है। क्या हम चोर हैं?

दूसरा—बाज़ आया इस मन्दिर से। बाबा सिर बचाओ। (सटक जाता है)

अन्य व्यक्ति—सचमुच यह मन्दिर हमारा सबका है। इसमें किसी को भी, जो पूजा करने आता है, हमें रोकने का, उसे पूजा न करने देने का अधिकार नहीं है। ऐसा धर्म कभी जीवित नहीं रह सकता जो वर्ग-भेद उत्पन्न करता । भाइयो, सबको एक बराबर समझो।

डॉक्टर—यह बड़ा अत्याचार है कि एक हिन्दू मन्दिर में न जा सके। ऐसे मन्दिर को मैं मन्दिर नहीं मान सकता, जहाँ सबको एक रीति से भगवान् के दर्शन करने का अधिकार न हो।

दूसरा व्यक्ति—मन्दिर सबके लिए है। भगवान् सबके हैं। सबको आने का अधिकार है।

डॉक्टर—बहन, उठो चलो, मैं तुम्हें पूजा कराने ले चलता हूँ,

देखें कौन रोकता है ! भगवान् के सामने हम सब एक हैं। उसके बच्चे हैं, एक हैं।

सब लोग—चलो, यह हमारा पाप है जिसने हमें ऊँच-नीच का भाव दिया, हम सब एक हैं। हिन्दू-मात्र एक हैं। हिन्दू-धर्म महान् है।

हरि—माँ चलो, मैं इस मन्दिर में पूजा नहीं कर सकता। यह हमारा नहीं है, मैं अपने भाइयों में परचार करूँगा कि यह मन्दिर हमारा नहीं है। चलो

छमिया—बेटा, देखो, ये डॉक्टर कितने दयालु हैं। आज इन्हें अपनी भूल मालूम हुई है।

डॉक्टर—हरि बेटा, हिन्दुओं का पाप उनके सिर पर चढ़कर बोल रहा है। यह हमारी भूल थी। चलो, भगवान् तुम्हारी पूजा को ग्रहण करने के लिए तैयार हैं।

मन्दिर का मालिक—(भीड़ में से आगे बढ़कर) मैं अधिकार देता हूँ कि मन्दिर सबका है। सबको पूजा करने का अधिकार है। हिन्दू-मात्र के लिए आज से इस मन्दिर के द्वार खुल गए हैं। चलो बहन, तुम पूजा करो।

[सब पूजा करते हैं। सब हरि के हाथ का प्रसाद लेते हैं। घंटे-घड़ियाल के बीच में 'बोलो हिन्दू धर्म की जय ! सब हिन्दू एक हैं, भाई-भाई हैं !' की आवाज़ उठती है]

गीत—हरे कृष्ण गोविन्द मुरारे।
सबके तारनहारे।
गणिका अजामील तुम तारे
सबके रखवारे।
हरे कृष्ण गोविन्द मुरारे।

(परदा गिरता है)



दो अतिथि

(व्यंग्य प्रहसन)

पात्र

स्टेशन-मास्टर — उसकी पत्नी
उपदेशक — भजनीक
माधो — गोमती

दो अतिथि

[रेलवे के क्वार्टर का एक दृश्य। सामने १५फुट लम्बा १० फुट चौड़ा बरामदा। उसके पीछे दो कमरे। बरामदे मे दक्षिण की तरफ दो खाटे पडी है। उसके पास एक बच। खाट के पास कमरे से सटी हुई एक छोटी मेज। खाट के पीछे का रास्ता बद है। केवल मेज़ की तरफ का कमरा खुला है। उसमें सामने मेज़ के ऊपर एक सिगारदान रखा है उसके पास ही तेल की शीशी, रोली की डिबिया, कघा तथा अन्य सामान रखा है। कमरे में एक लैम्प जल रहा है। एक स्त्री गुनगुनाती हुई बाल काट रही है। स्त्री नवयौवना है। उसकी वेश-भूषा पजाबी है। बरामदे में भी एक लैम्प जल रहा है। ऋतु में न गरमी है, न सरदी। सिगार करके गुनगुनाती हुई स्त्री बाहर आकर खाट पर बैठ जाती है। फिर उठकर एक अखबार लेकर पढने लग जाती है। युवती पढना नही जानती, केवल अक्षर जोडकर बाच रही है।]

युवती—कलकत्ता . १२,. दिसम्बर...कल कांग्रेस की वैधानिक कमेटी की बैठक सोदपुर में गाधीजी की कुटिया मे हुई . न जाने क्या लिखा है समझ में तो आता ही नहीं। (फिर पढती है) टर्की से रूसी दूत मास्को चला गया। दर्रा दानियाल की माँग पर रूस वैसे ही अडा है टर्की, टर्की क्या, रूसी दूत, कुछ समझ मे आवे तो पढ़ूँ। कहते है खाली बैठी रहती हो, पढा करो। क्या पढा करूँ? कुछ समझ में तो आता ही नहीं। (फिर पढती है) सिन्ध भूकम्प पीड़ितों को

सहायता। भूकम्प! (आवाज़ लगाकर) माधो, ओ माधो!

(रसोईघर से माधो नाम का लडका बोलता है)

जी, बीबी जी। (बरतनो के माजने की खडखडाहट आती है)

युवती—अरे भूकम्प क्या होता है? टर्की किसे कहते है?

माधो—भूकम्प, बूकम्प, बू कम्प कहते हैं, जिसमे बू कम्प हो बीबी जी। टर्की नहीं होगा, होगा ठर्की। जिसको कोई ठर्क हो। दारू पीने की ठर्क। चोरी करने की ठर्क। बस उसे ठर्की कहते है। (फिर बरतन माजने की आवाज़ आती है। स्त्री फिर पढती है)

युवती—टर्की, इसमें तो टर्की लिखा है, ठर्की नहीं।

माधो—गलत होगा। अख़बार वाले भी तो गलत लिख देते हैं। (बाहर निकलकर) अखबार कोई सही थोडे ही होता है। एक आदमी एक मकान में बैठा रहता है। जो मन मे आता है लिखता रहता है। यह कोई रेल का काम तो है ही नहीं कि जब तक लैन किलीयर न मिले तब तक गाड़ी लैन पर नहीं आती। क्या कहे, गाडी से ठीक कोई बात है भी तो नहीं। अंग्रेज़ो का यही काम तो सबसे बड़ा है। सरर-सरर हाथी-सा इंजिन खडर-खडर करता घूमता रहता है। पहली बार जब मैने गाडी देखी तो लगा साछात देवी है। अरे देवी तो है ही। देखती नहीं हो, वह जो सीसा लगा होता है न, वही देवी की आंखें है। चाचा ने ही तो बताया है।

युवती—मै देवी-एवी नहीं मानती। मैं तो आर्यसमाजिन हूँ, माधो! तेरे वह, आर्यसमाजी है न, इसलिए।

माधो—आर्यसमाजी हों या सिख, हिन्दू हों या मुसलमान, मानते है सब देवी को। ख़ैर मैं क्या कहूँ, तुम्हारी मर्ज़ी है। तो क्या तुम्हारे घर के आदमी भी आर्यसमाजी हैं?

युवती—घर में तो मै जानती भी नहीं थी कि आर्यसमाजी किसे

कहते हैं। तीन जमात तक तो मैं पढ़ी ही हूँ। फिर माँ ने पढ़ाना छुड़ा दिया। यह तो यहाँ आकर देखा है।

माधो—जब गाड़ी स्टेशन पर आती है तो जानती हो मैं कैसी झण्डी दिखाता हूं? (अकड़कर अपने नीले रंग की पगड़ी की झंडी बनाकर) इसे तुम झंडी समझो। झंडी लाल और हरे रंग की होती है। बस, मैं उसे हिलाने लगता हूं। रात को लालटैन—लाल और हरी। फक्-फक्-फक् जब इञ्जन चलता है तब मेरा मन भी चलने लगता है। और अगर तुम चढ़ने की कहो तो यहाँ मालगाड़ी से लेकर फस्ट क्लास तक में बैठे हैं, हाँ।

युवती—फस्ट किलास होता क्या है, माधो?

माधो—अरे तुम नहीं जानतीं बीबी जी, वह एक किलास होती है जहां लोग बहुत रुपया, ओह, तुम्हें क्या गिनाऊँ (दोनों हाथ फैलाकर) इतना रुपया देना पड़े, तब कहीं जाकर टिकट मिलता है। पर हम तो हुए स्टेशन के ही न। जहाँ मौका देखा, जा बैठे। एक दिन फस्ट क्लिास में बैठने के, बैठने क्या, घुसने के लिए मैंने एक भंगी को बुलाया। वह बुहारी लगाता रहा और मैं वहीं खड़ा रहा। बात यह है हमारा स्टेशन छोटा है न। सिरफ पसिंजर ही तो ठहरती है। कभी-कभी मौका मिलता है, बीबी जी।

युवती—(हंसकर) तू बड़ा नटखट है, माधो। काम कर लिया?

माधो—दो मिनट। (चुटकी बजाता हुआ) अब काम समझो कि हुआ। (जाकर बर्तन मांजता है और साथ ही गाना गाता है) रेल चली, रेल चली, रेल चली रे।

युवती—अभी आठ की गाड़ी नहीं आई, माधो?

माधो—अभी नहीं आई। हाँ, अभी कहाँ आई है? लेट हो गई। ड्यूटी अप न जाने क्यों नहीं आई। देख आऊँ जरा। (जाता है)

युवती—अरे बर्तन तो माँज जा ! अच्छा जा, मै ही माँज लूँगी। बड़ा नटखट लड़का है। दिन-भर घर में पड़े-पडे जी उकता जाता है। न चूल्हा, न चक्की। न जाने शहर की स्त्रियों का मन कैसे लगता है ? (बर्तन माजने लगती हैं)

(एक औरत का प्रवेश)

स्त्री—माधो, ओ मधुआ ! मधुआ बर्तन माँजने नहीं आया क्या, बीबी जी ? मेरा लड़का क्या है, शैतान है। कल से तमाम देह दर्द के मारे टूटी जा रही है। ज़रा काम करने को कहा, वह भी नहीं किया।

युवती—(रसोई से बाहर आकर) काम तो कर गया पर सब अधूरा, गोमती। अब गाड़ी देखने गया है।

स्त्री—आने दो निगोड़े को, हड्डी-पसली न तोड़ दूँ तो कहना। बाप ने लाड लड़ा रखा है, कुछ कहता ही नहीं है। मै कहती हूँ तो मुझे मारता है। नाक मे दम है। लाओ मैं काम कर दूँ।

युवती—नहीं, गोमती, काम हो गया। ऐसा काम ही क्या था ? और मुझे तो काम करने की आदत है ही। गाँव मे तो रोटी-पानी, दाना-घास, सभी कुछ करना पड़ता था। गाय दुहना, सानी करना, दही बिलोना सभी कुछ करती थी, गोमती। पाँच-पाँच सेर आटा पीसना तो मेरे बायें हाथ का खेल है। अब दिन-भर बैठी रहती हूँ। काम कुछ भी नहीं है।

स्त्री—तुम्हे अब काम करने की क्या ज़रूरत है। रानी बनी बैठी रहो। मालिक सलामत रहे, स्टेशन-मास्टर साहब। तुम्हें क्या कमी है। दूसरा ब्याह है। अब तो जल्दी मे (मुसकराती है)

युवती—अभी क्या जल्दी है गोमती ! अभी मै छोटी ही तो हूँ।

स्त्री—परमात्मा छोटी-बड़ी थोड़े ही देखता है, उसे तो जिसको भागवान् बनाना होता है उसकी कोख भर देता है।

युवती—तूने सन्ध्या नहीं पढ़ी, गोमती ?

स्त्री—(आश्चर्य से) सन्ध्या? सन्ध्या क्या? भला मैं गंवार औरत सन्ध्या-सन्ध्या क्या जानूँ। यह क्या होती है?

युवती—तेरे स्टेशन-मास्टर आर्यसमाजी हैं न, कहते हैं सन्ध्या किया करो। मुझे तो वह याद ही नहीं होती। अखबार पढ़ने को कहते हैं पर समझ मे तो कुछ आता ही नहीं, गोमती। भला रूमी दूत क्या होता है?

स्त्री—रूसी दूत न जाने क्या होता है। गांधी बाबा को तो मैं जानती हूँ, रूमी दूत नहीं मालूम। अख़बार मत पढ़ा करो, बीबी जी। अख़बार पढ़ना अच्छा नहीं होता। पहले स्टेशन-मास्टर की बीवी (कानो पर हाथ लगाकर) आकास फाडती थी बीवी जी। उसके सामने क्या मजाल कोई बोल जाय। आदमियों से लडती थी। हरदम दो-चार मेहमान घर में घुसे रहते थे। मैं तो काम करते-करते मर गई। न एक पैसा देना, न कुछ। दिन-भर काम मे पिसना पडता था। काम न करो तो वैसे मुसीबत। नौकर जो ठहरे। और मर्दज़ादी पत्ता नहीं तोडती थी। सवेरे से सॉझ तक पिसना पड़ता था। ज़रा कहो छुट्टी दे दो तो नाक-भौं सिकोड बैठती थी। सो अख़बार न पढ़ा करो, रानी।

युवती—मुझे तो अखबार वैसे भी अच्छे नहीं लगते। वही रात को पढते रहते हैं। मैं तो सोती रहती हूँ।

[स्टेशन-मास्टर का प्रवेश, स्त्री चुपचाप खिसक जाती है]

स्टेशन-मास्टर—सुनती हो, दो अतिथि आये हैं। इसी ट्रेन से आप से। उपदेशक हैं। सैदपुर जा रहे हैं। १८ मील दूर अब रात को कहाँ जाते। वैसे तो मुसाफ़िरखाने मे पडे रहते। मैंने कहा, मेरे यहां ही ठहर जाओ। कैसा रहेगा?

युवती—अच्छा तो है, ठहरा लीजिये। खाना बनाना होगा बना दूँगी।

स्टेशन-मास्टर—अब खाना क्या होगा, जो बनाया था क्या उसी से काम न चल जायगा ?

युवती—दो ही आदमियों का तो खाना है, और दो वे हैं। हम लोग

स्टेशन-मास्टर—हम लोग दूध पीकर रह जायगे, और बचेगा तो खा भी लेंगे। मैं नहीं चाहता कि तुम इस समय खाना बनाओ। बेकार कष्ट होगा। रात-भर की बात है, सवेरे तो वे लोग चले ही जायगे।

युवती—तो भोजन बनाने में कितनी देर लगती है ? मुझे ज़रा भी कष्ट न होगा। आप उन्हें बुला लीजिये।

स्टेशन-मास्टर—वे आ रहे हैं। घीसू उनका सामान लेकर आ रहा है।

युवती—जैसा तुम समझो, मुझे तो खाना बनाने में भी कोई कष्ट न होगा।

स्टेशन-मास्टर—नहीं, अब खाना बनाने की जरूरत नहीं है। शायद वे न खाय। और खायगे भी तो जो बना रखा है उसी में से खा लेंगे। रानी, अब तुम क्या बनाओगी!

[दोनों उपदेशक कुली पर सामान रखवा कर आते हैं और बरामदे में खाटों पर अपने बिस्तर रखवाकर जम जाते हैं। पति-पत्नी भीतर कमरे में चले जाते हैं]

दोनों—ओ३म्, ओ३म्। (एक दूसरे से) भक्त सभी जगह मिल जाते हैं। वैसे काटने को तो रात मुसाफिरखाने में भी काट लेते, पर कष्ट तो होता ही। यहाँ मजे से रात को खाट पर सोयगे।

पहला—भई, बात यह है मेरा तो तमाम शरीर बैठे-बैठे दर्द करने लगा है। इस भीड़-भाड़ में यात्रा करना बड़ा कठिन है। पर क्या किया जाय, भगवान् दयानन्द ने कितना कष्ट उठाया था। हम लोग

कष्ट उठाते हैं तो क्या है। ओ३म्, ओ३म्। (खाट पर आसन बिछाकर बैठ जाता है) दुलीचन्द जी, ऐसा करो खाट ज़रा दूर करके बिछाओ। मेरी आदत है ज़रा दूर ही सोता हूं। ओ३म्-ओ३म्।

दूसरा—(गुनगुनाता हुआ) 'दयानन्द के वीर सैनिक बनेंगे।' दयानन्द के पंडित जी, नूरपुर वालों ने जो उस दिन खीर बनाई, भई, वैसी तो बहुत कम खाई है। क्या बात है। पिस्ते, बादाम, किशमिश से भरी हुई थी। ऐसी गाढी कि चमचा खडा हो जाय।

पहला—पिस्ते, बादाम, किशमिश वाली बात तो ठीक है, पर चमचा खडा होने की बात तो दूर की सूझ है। उसी दिन रात को महाशय धर्मपाल जी दूध लेकर आये, तो मैंने कहा, महाशय जी रात बहुत हो गई है अब तो क्षमा करो। पर वे कब मानने वाले थे। पीना ही पडा वह गाढ़ा-गाढा रबडी-का-सा दूध। ओ३म्, ओ३म्। आर्य समाज का पहला सिद्धान्त है—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है। सो भई, उस परमेश्वर को जानो। और तुम्हें उस दिन की कमालपुर की घटना याद है?

दूसरा—क्या?

पहला—उस रात को जैसे ही हम लोग पहुँचे तो छोटे-छोटे गिलासों में दूध आया। पीकर सो रहे। क्या करते? दूसरे दिन जब खाना खाने बैठे तो बड़े-बडे गिलासों में पानी दिया गया। महाशय देसराजचन्द ने कहा, (हा हा हा) क्या कहा, जानते हो?

दूसरा—क्या कहा?

पहला—कहने लगे हाथ जोडकर उन गिलासों से कि महाराज, रात को आप कहाँ थे, रात को आपके छोटे भाई आये थे और इस समय आप आये हैं। (दोनों हंसते हैं)

पहला—ईश्वर-ईश्वर कहो। ओ३म्, ओ३म्।

दूसरा—पण्डित जी, जब पेट में कुछ हो तभी ईश्वर को जाना जा सकता है। आपने तो खा लिया, यहाँ थोड़े वेतन में खायें तो घर क्या भेजें ? भजनीक की बिसात ही क्या है ? (बिस्तर बिछाकर) पेट में हाथी कूद रहे हैं। आँखों में चक्कर आ रहा है।

पहला—धीरे बोलो, हम यहाँ केवल रात को ठहरने ही तो आये हैं। खाने को तो नहीं।

दूसरा—पर कुछ खाना तो होगा ही !

पहला—दूध ले आओ, पी लो। दूसरे को तंग मत करो। ईश्वर-ईश्वर।

[स्टेशन-मास्टर कमरे में आता है]

स्टेशन-मास्टर—तो महाशय जी, भोजन ?

पहला—भोजन भोजन का अब कष्ट मत कीजिये। रात काटनी है, काट ही लेंगे। मैं तो भोजन नहीं करूँगा। ओ३म्, ओ३म्।

स्टेशन मास्टर—(दूसरे से) आप, क्या आप भी भोजन नहीं करेंगे ?

दूसरा—महाशय जी, इच्छा तो है नहीं। क्यों पण्डित जी, अब क्या खाना। अच्छा, तो थोड़ा-सा भोजन कर लूँगा। वैसे अब तुम जानो भूख तो है नहीं। और हो भी तो क्या हम उसे रोक नहीं सकते। भगवान् ने एक बार गाड़ी रोक ली थी। क्या कहते हैं, पंडित जी ?

पहला—इसमें क्या संदेह है। रोकना हो तो मनुष्य इन्द्रियों को रोके। विषयों में न जाने दे। तभी अमृत मिलता है, मेरे भाई। ओ३म्, ओ३म्। हे प्रभु, तेरी भक्ति में मेरा जीवन बीत जाय।

स्टेशन-मास्टर—तो चलिये। आप जो कुछ रुचे थोड़ा-सा भोजन कर लीजिए। आप भी पण्डित जी कुछ थोड़ा-सा खा लेते तो अच्छा था। अकेले खाने में पाप लगता है। क्यों पण्डित जी ?

पहला—बात यह है, मुझे इस समय अजीर्ण है। प्रात एक भक्त के आग्रह से थोड़ा ही भोजन किया था पर न जाने क्यों कुछ भारी हो गया। केवल आध सेर के लगभग हलवा और सेर भर के क़रीब खीर और थोड़ा बीच में भी एक जगह खा लिया था। (सोचकर पेट बजाता हुआ) अब नहीं खाऊँगा, महाशयजी इन्हें खिलाइये। जाओ, जाओ दुलीचन्द जी जाओ। ओ३म्, ओ३म्।

[स्टेशन-मास्टर थाली परोस कर भजनीक के पास मेज़ पर लाकर रखता है। वह खाने लगता है।]

स्टेशन-मास्टर—हाथ धो लेते, पण्डित जी।

दूसरा—[अपनी भूल समझकर] हाँ यह ठीक है। वैसे हाथ तो मैंने चार बजे के करीब एक स्टेशन पर पानी पीते हुए भी धोये थे। फिर भी धो ही लेना ठीक है। क्या कहते हैं, पण्डित जी ?

पहला—मेरे भाई सदा नेक काम करो। शुद्धि तो बाहरी चीज़ है। मन शुद्ध होना चाहिए।

दूसरा—मन चंगा तो कठौती में गंगा।

पहला—अशुद्ध, मन शुद्ध तो सब शुद्ध। एक बात है। खाने-वाले के आलू खूब चटपटे थे। इस समय तो वही आलू की चाट हो। पर मिर्च तो नहीं खानी चाहिए। तामसिक भोजन है न ! ओ३म्, ओ३म्।

[दूसरा व्यक्ति भोजन करता है, सामने बेंच पर स्टेशन-मास्टर बैठ जाता है। पहला उपदेशक कभी लेट जाता है कभी बैठ जाता है]

स्टेशन-मास्टर—स्टेशन की नौकरी में वैसे तो आपकी कृपा से सब आराम है पर यह बात है कि न जाने किस स्टेशन पर लाकर पटक दे वह आपको। इन्स्पेक्टर का आना तो

पहला—(आश्चर्य से) आपको ! क्या मतलब ?

स्टेशन मास्टर—आपको यानी नौकरी करने वाले को, पण्डितजी। ऐसे ही कहते हैं न ?

पहला—हाँ, हाँ ठीक है। भाई नौकरी तो सब बुरी। नौकरी न चाकरी, हरदम की चाकरी। अच्छा महाशय जी, आपके कितने बच्चे हैं?

स्टेशन-मास्टर—अभी उस दिन इन्स्पेक्टर आ गया। सब चेक किया। बेलेन्स-शीट देखी, बुकिंग आफिस का एकाउण्ट चेक किया। टिकट गिने। एक झगड़ा है। सारा दिन 'यह दिखा, वह दिखा' के मारे नाक में दम आ गया। फिर खाना भी खिलाओ, रौब भी सहो।

भजनीक—रोटी लाइये, महाशय जी।

पहला—(दूसरे से) साग किस चीज का है, आलू-सा दिखाई देता है। आलू आजकल बहुत महगा हो गया है। पर अपने को क्या। जहाँ गये, नया तर माल।

स्टेशन-मास्टर—जब वह जाने लगा तो बोला, देखो तुम्हारे काम में बड़ा डिफेक्ट है, तुम्हारे खिलाफ ब्राह्मणों की शिकायत पहुची है। सो अगर तुम सौ रुपये दो तो मैं मामला हश अप कर सकता हूँ। मैंने कहा, यह तो स्टेशन है, इतनी दूर पड़े हैं, तो इसलिए कि कुछ मिले। फिर पचास पर मामला ठहरा।

पहला—कल मेरे व्याख्यान का विषय होगा 'शुद्धि और आर्य-समाज'। देखो दुलीचन्द, भजन जरा भगवद्भक्ति के ही गाया करो। उस दिन का तुम्हारा भजन लोगों ने बड़ा पसन्द किया। और रोटी लोगे क्या? महाशय जी रोटी और ला दीजिये दुलीचन्द जी को। (डकार लेता है) ओ३म्!

दूसरा—मैंने एक नई तर्ज निकाली है (गाना हुआ ही गाता है) "भक्ति की बहार है ईश को बुलाये जा, ईश को बुलाये जा। बुलाये जा।" कैसा रहेगा? महाशय जी रोटी लाइये।

स्टेशन-मास्टर—(रोटी देकर) साले उल्लू हैं। कहते हैं हमीं खायगे तुम मत खाओ? और खाते सब हैं। जिसे न दो उसे बुरा लगता है। जगल में लाकर पटक दिया है। क्या और रोटी चाहिए? अच्छा लाता हूँ। (रोटी लाकर थाली में रख देता है)

पहला—ओ३म् ओ३म्। 'शन्नो मित्र. शं वरुण शन्नो भवत्वर्यमा।' दुलीचन्द जी, भला आर्यसमाज पालमपुर ने कितने रुपये दिये थे समाज को ? १०५) न ! ११०) चाहिए थे ५) कम क्यों दिये। सैदपुर से चलने पर एक शादी भी मक्खनपुर के आर्यसमाज के प्रधान की लड़की की है। वह भी भुगतानी होगी। मैने कह दिया है १०) रुपये दक्षिणा, १ जोड़ा धोती, एक अंगोछा और एक आसन देना होगा।

दूसरा—मुझे भी तो कुछ दिलवाइये। पाँच तो हों कम-से-कम।

पहला—पाँच तो मुश्किल हैं। हाँ २) वे अवश्य दे देंगे। लोभ पाप का मूल है, पाप मूल अभिमान। अभी तक खट्टी डकारें आ रही हैं। अरे माल पराया है तो क्या, पेट तो अपना है। ओ३म्, ओ३म्।

स्टेशन मास्टर—(अपनी धुन में) मै कहता हूँ तुम चाहो जो कुछ ले लो, पर लो हिसाब से। दूसरों को खाने दो और खुद भी खाओ। क्यों पंडित जी, तो आप कब तक लौटेंगे सैदपुर से।

पहला—परसों।

दूसरा—कोई अचार-वचार नहीं है, महाशय जी ?

स्टेशन-मास्टर—अचार, अचार भी खाते हैं आप ? बात यह है कि अभी तक तो था पर—सब खा डाला। वैसे मुझे अचार लगता बहुत अच्छा है। उपदेशकों को अचार तो निषिद्ध है न ? तामसिक भोजन जो हुआ।

पहला—मुरब्बा खाया करो भाई, महाशय जी, मुरब्बा बड़ी अच्छी चीज । [illegible] ा, गाजर का, आम का। मै तो अचार वगैरा खाता नहीं हूँ। मुरब्बा मिल जाय तो छोड़ता नहीं हूँ, ओ३म्, ओ३म्।

दूसरा—मुरब्बा ही दे दीजिये।

स्टेशन मास्टर—मुरब्बा कहाँ है पंडित जी ! एक बनिया दे गया

था सो उस दिन इन्स्पेक्टर खा गया, बाकी हमने खा डाला। रोटी और लेंगे क्या ?

दूसरा—वैसे अब भूख तो है नहीं। मेरा नियम है बारह रोटी खाता हूँ। अभी तो दस ही हुई है न ? क्यों पंडित जी ?

पहला—थोड़ा खाना बहुत पचाना, यह है शास्त्र का सिद्धांत। फिर जब मिले तो छोड़ना भी नहीं, यह है अपने राम का सिद्धान्त। हे ईश्वर तुम्ही हो। ओ३म्, ओ३म्। और ला दीजिये महाशयजी।

स्टेशन मास्टर—अच्छा ! (जाता है)

पहला—क्या सभी खा लोगे ? अब बचा भी क्या होगा। दो आदमी हैं। अपने लिए खाना बनाया होगा, बस करो।

(स्टेशन-मास्टर खाली हाथ लौट आता है और बैठ जाता है)

स्टेशन-मास्टर—(भजनीक को थाली में हाथ धोते देखकर) और नही लिया आपने ? खैर, थाली रहने दीजिये। (भजनीक थाली दूर रखकर हाथ पोंछता हुआ खाट पर बैठ जाता है, दोनो लेट जाते है) सोयेंगे अब ! (दोनो डकार लेते है)

दोनों—हाँ, थक गए। सो लें, सवेरे जाना भी है। ओ३म्, ओ३म्। (दोनो करवट बदल लेते है, दीपक जलता रहता है)

(पति-पत्नी भीतर के कमरे में। पत्नी खाट पर बैठी है पति सामने खड़ा है)

पति—कुछ बचा है ?

पत्नी—कुछ नहीं। सब खा गया। पूरा पेटू है। कहा था और बना लूँ।

पति—जाने दो। दूध लाता हूँ। तुमने अखबार पढा ? पढा करो यह लो एक और अखबार। एक से छीन लिया है। इसमें कहानी पढो। मैं आया, और सुनो ये रुपये रख देना। (रुपये देता है, पत्नी रुपयों को गिनती है)

पत्नी—चालीस रुपये हैं।

पति—हां, आज चालीस ही मिले। काम कराना होगा तो अपने आप देंगे। दो वैगन ऐसे ही आसानी से थोडे मिल जाते हैं।

(पति लोटा लेकर दूध लेने चला जाता है। पत्नी अखबार में से कहानी पढती है। जोर-जोर से बाहर से दोनो की खुर्राटे लेने की आवाज़ आती है।

पत्नी—(अपने-आप) बडे सुअक्कड हैं।

(थोडी देर में पति दूध लेकर आता है, पत्नी कमरे के दरवाजे के पास से ही चीनी लाने को कहती है। पति बाहर बेंच पर लोटा रख-कर चीनी लेने बाहर निकल जाता है। पत्नी खाट पर लेटकर अख-बार पढने लगती है। इसी समय भजनीक की आख खुलती है, वह देखता है खाट के पास बेंच पर एक लोटा रखा है—वह उठकर लोटे को देखता है)

भजनीक—भक्त आदमी है विचारा। इसने सोचा पडित जी ने भोजन किया है दूध तो चाहिए ही। दयानन्द, दयानन्द, तेरी जय हो। (इतना कहकर लोटे से ही दूध पीने लगता है) चीनी नहीं है। शायद नीचे बैठी होगी। (पैन्सिल निकाल कर लोटे का दूध हिलाता है, पर मीठा नही होता) याद नहीं रही होगी। आज ऐसा ही सही। कभी घी घना, कभी मुट्ठी चना। (सारा दूध पीकर लोटा खाट के पास सरका कर मुह पोछता हुआ सो जाता है। थोड़ी देर में ही खुर्राटे लेने लगता है)

(स्टेशन-मास्टर का प्रवेश)

पति—सुनती हो, लो चीनी।

पत्नी—(दरवाजे के पास आकर) लाओ।

पति—दूध कहाँ है?

पत्नी—बाहर होगा।

(देखता है बाहर दूध नही है, चीनी की पुडिया बेंच पर रखकर

खाली लोटा खाट के नीचे से ढूंढता है। फिर पत्नी के पास जाकर दूध का लोटा दिखाता है। पत्नी क्रोध में भर जाती है। खाट पर जा लेटती है)

पति—मालूम होता है दूध इन महाशय ने पी लिया, और ले आता हूँ। बड़े अजीब आदमी है सारी रोटियाँ भी खा गए, पूरे धूर्त हैं।

पत्नी—(भीतर से ही) सब रोटियाँ एक आदमी ने ही खा डालीं और अब दूध भी पी गए।

(पति दूध का लोटा लेकर बाहर निकल जाता है, पत्नी खाट पर लेटी रहती है। इसी समय भजनीक की आंख खुलती है। देखता है एक पुडिया बेंच पर रखी है। उठकर खोलता है)

भजनीक—ओ कितने दयालु हैं महाशय जी! मैंने भी कितनी मूर्खता की, ज़रा देर ठहर जाता तो दूध में मिलाकर पीता। धन्य है आप। सच है हमारा देश कितना अतिथि-भक्त है। वाह, पर अब क्या करूँ? आखिर जब उन्होंने चीनी मेरे दूध के लिए ही दी है तो मेरी ही तो हुई। लाओ इसे रख लूँ, कभी काम देगी। (चीनी की पुडिया थैले में रख लेता है और फिर सो जाता है। खुर्राटे भरने लगता है)

(स्टेशन-मास्टर दूध लेकर आता है)

पति—सुनती हो। दूध ले आया। बडा गरम है हाथ ही जल गए। (एक दम बेंच के ऊपर दूध रखकर हाथो को सहलाता हुआ भीतर जाता है, बैठकर) दूध ले जाओ।

पत्नी—मैं बाहर जाती क्या अच्छी लगती हूँ, तुम्हीं ले आओ।

पति—अच्छा, (दूध लेने जाता है, देखता है चीनी की पुडिया वहा नहीं है, फिर भीतर जाकर पूछता है) चीनी कहाँ है?

पत्नी—मुझे नहीं मालूम, बाहर ही होगी। क्या वह भी नहीं है?

पति—नहीं।

पत्नी—(हंसकर) वह भी फाँक गया होगा वह धूर्त। अच्छे अतिथि आये।

(पति बाहर ढूंढ-ढाढ कर भीतर आकर हंसता है)

पति—मालूम होता है, चीनी भी खा गए। कैसे उपदेशक हैं?

पत्नी—तुम्हीं कहते हो आर्यसमाज के उपदेशक बड़े त्यागी होते हैं। आर्यसमाज बड़ा है, बड़ा वो है।

पति—तो एक आदमी के खराब होने से सारा समाज थोड़े ही खराब हो जाता है। मेरा ख़याल है भूल हो गई, नहीं तो ऐसा भी क्या कि वे बिना पूछे दूध पी जाते।

पत्नी—तो और ले आओ। पर देखो बाहर से दूध उठाकर भीतर रख दो।

पति—मैं और चीनी ले आता हूँ। दूध अभी बहुत गरम है। हाथ जलता है। अभी कोई चिन्ता नहीं है। पीने वाला पी चुका। दूसरे पण्डित तो सो गए।

[पति चीनी लेने बाहर निकल जाता है, पत्नी अख़बार के अक्षर जोडकर कहानी पढती है। इसी समय पहला व्यक्ति करवट बदलकर उठता है, और चुटकी बजाकर ओ३म् ओ३म्, करता हुआ बैठ जाता है। देखता है पत्ते मे ढका हुआ लोटा रखा है। पास जाकर लोटा उठाता है]

पहला—हुलीचन्द जी, महाशय हुलीचन्द जी तुमने दूध पी लिया क्या?

दूसरा—(जागकर) हाँ, पी लिया। आप भी पी लीजिये। चीनी न हो तो मेरे पास रखी है। मैंने तो खाली दूध पिया था। देख लो।

[पत्नी क्रोध, खीज और मुसकराहट के साथ दरवाजे के पास, किवाड़ पर्दे में खड़ी हो जाती है]

पहला—दूध अच्छा है (पीता है) फीका है। (दुलीचद चीनी निकालकर थैले में से देता है। वह गिलास में डालकर दूध पीता है) भक्त हो तो ऐसा हो। दयानन्द तेरी जय हो। सहनाववतु, सहनौभुनक्तु, सहवीर्यं करवावहै। (गट-गट करके दूध पीने लगता है, उसी समय स्टेशन-मास्टर आकर देखता है) महाशय जी, इसकी क्या आवश्यकता थी। मैंने तो सोचा था ऐसे ही सो जाऊगा। पर आपकी भक्ति का तिरस्कार करना भूल होती। ओ३म्, ओ३म्। आपने भोजन कर लिया महाशय जी?

स्टेशन-मास्टर—(क्रोध से) जी। पहले आप तो भोजन कर लीजिए। हमारा क्या है?

पहला—धन्यवाद। लोटा नीचे यहीं रख दूँ क्या? (रख देता है) ज़रा कुल्ला करूँगा। या फिर रहने दो, कष्ट न कीजिये। (लेट जाता है)

[पति-पत्नी एक दूसरे को देखते है, वे दोनो खुर्राटे लेने लगते है]

[पर्दा गिरता है]

